

मुम्बय्यां

मणिलाल इच्छाराम देसाई इत्यनेन स्वीये 'गुजराती' पत्रस्य

“न्यूस मुद्रणघञ्चालये”

मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । कोर्दं काळ्याघोडा, बेन-हारस लेन.

धीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



सर्वभागेषु नष्टेषु कलौ च खेलधर्मिणि ।
पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
श्लेच्छाम्नान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादिनीर्यवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावाद्विनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं वृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वप्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबह्मभोव्रवीत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमह्मभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

अष्टमपत्रे चरमपङ्क्तितोऽवशिष्टम् ।



उच्यते । सा च स्नेहरूपा । तदुक्तं नियन्त्रे 'माहात्म्यज्ञाने' त्यस्य व्याख्याने
 'रतिः स्नेह' इति । स्नेहस्तु प्रेम्भैव । न च शाब्दिकोक्तमावार्थविरोधादसङ्गतमिव प्रति-
 भातीति वाच्यं, निरुक्तेरपि प्रमाणत्वात् । इतरथा 'कूपेर्वर्ण' इत्यनुशासनसिद्धस्य कृष्ण-
 शब्दस्यानन्दवाचकत्वं गगनकुसुमायमानं स्यादिति भक्तिसरणिकुशलतमाः परिशीलयन्तु ।
 अधुना देशादिसाधनानामसाधकत्वमिति । अधुना कलावित्पर्यः । आदिपदात्
 कालद्रव्यमन्त्रकर्तृकर्मणां ग्रहणमितरत्स्पष्टम् । उक्तं च तत्त्वार्थदीपे 'पङ्क्तिः संपद्यते धर्मस्ते
 दुर्लभतराः कलावि'ति । सर्वसाधनरूप इति, पङ्क्तिसाधनरूप इत्यर्थः । सहृद्यातात्पर्या-
 नुरोधेन सर्वपदस्यात्र सङ्कुचितवृत्तित्वात् । दशलीलेति । 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्यात्
 पोषणमृतयः । मन्वन्तरेशालुक्या निरोधो मुक्तिराश्रय' इत्येता दशलीला इत्यर्थः । सर्व-
 मेतच्च द्वितीयस्कन्धसुयोधिन्यामस्मदायैर्विवेचितं विस्तरभयाल्लक्ष्यमात्रमेवोच्यते न कृत्स्नम् ।
 तत्र चावदशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः

॥ धीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गदनवैश्वानराचतारश्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीत

कृष्णाश्रयस्तोत्र ।

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेन्यदाशिषः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भवत्याहं तान्निजाचार्यान्भिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

जिसकी लीलाका लवमात्र (थोडा) भी मलीमाँति सम्बन्ध हो जानेसे (जीवको) अन्यभाशिर्वाद रुचिकर नहीं होते, उस, श्रीराधाके हृदयको आनन्ददानकरनेवाले आनन्दरूप श्रीकृष्णका मे आश्रय करता हूँ ॥ १ ॥

जिसके कृपाकटाक्षसे पामर जीव भी बिना किसी प्रकारके प्रयत्नसे ही श्रीगोविंदको प्राप्त करता है, उन निज श्रीमदाचार्यचरणोंको मे अर्थ (ग्रन्थसमाप्ति) सिद्धिकेलिये भक्ति-पूर्वक अभिवादन करता हूँ ।

ग्रन्थावतरण ।

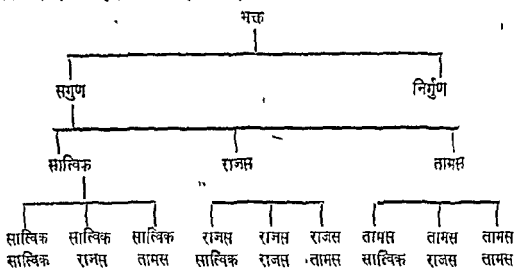
श्रीकृष्णका आश्रय प्राप्त होनेसे (ऐहिक पारलौकिक) सर्वकार्य सिद्ध होते है । निजजनोंके सर्व कार्य सिद्ध हों, इसलिये मानों बरदान करते हों, उस तरह श्रीमदाचार्यचरण कृष्णाश्रयस्तोत्रका निरूपण करते है ।

कृष्णाश्रय में दशश्लोक क्यों हैं ?

इस समय देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र, कर्म आदि साधनोंके दूषित होजानेके कारण कर्ममार्गादिसाधन सर्वसाधक नहीं है । भगवद्भक्तों के सर्वसाधनरूप एवं चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही है । अर्थात् देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छहों साधन एवं धर्म, अर्थ, काम और भोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंको मिलानेसे दश सद्गुण की पूर्ति होती है, और साथ ही इस ग्रन्थका आशय यह भी है कि साधन और साध्य सब भगवद्रूप है, इसलिये दशश्लोकोंसेही उनकी भगवद्रूपता सिद्ध कीगई है ।

दूसरा कारण यह है कि भगवान् की लीला सुर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, उक्ति, मन्वन्तर, ईशानुक्था, निरोध, मुक्ति और आश्रयरूप दशप्रकार की है, अतः भगवदाश्रयका निरूपण भी दश श्लोकोंसेही करना उचित है ।

तीसरा हेतु यह बताया जाता है कि दशविध भक्तोंसे सेव्य श्रीकृष्ण हैं, यह दश श्लोकों से दर्शाया है । भक्तोंके भेद निम्नाङ्कित चक्र के अनुसार है:—



सगुण के नवप्रकार और एक निर्गुणको मिलाकर दशविधभक्तों से सेव्य श्रीकृष्ण हैं ।

चौथा प्रयोजन यह है कि— प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, क्रकल, देवदत्त और धनञ्जय इन दशविध प्राणों से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, अतः सर्वकार्यसाधक कृष्णाश्रयका भी निरूपण दश श्लोकोंसे प्रार्थनाके निमित्तसे श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए किया है ।

उपर्युक्त देशादि साधनोंमें काल मुख्य होनेकेकारण सबसे पहिले काल पुरुषार्थको सिद्ध नहीं कर सकता यह बतानेकेलिये कालधर्मका निराकरण करते हुए श्रीकृष्णकी प्रार्थना करतें हैं—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

अन्वय—कलौ खलधर्मिणि सति, लोके पापण्डप्रचुरे सति, सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु, कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

कलिकालके खल (दुष्ट) धर्मयुक्त होनेपर, लोकके विशेष कर पापण्डी होने पर तथा सर्वमार्गोंके नष्ट होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति—आश्रय होवै ।

कलिकाल खलधर्मो है । खल पुरुष अन्तर्दुष्ट होता है, जो व्यक्ति अन्तर्दुष्ट होता है, वह सत्कार्य में बाधक रहता है । कहीं कहीं "खलधर्मिणी" ऐसा भी पाठ है वहाँ जिसकी चेष्टा दुःसह हो ऐसा कलिकाल प्रवर्तमान होने पर—सदानन्द भगवान् ही मेरी गति—आश्रय—ऐहिक पारलौकिक अर्थ साधक—होवै । सारा संसार पापण्डप्रचुर बन गया है, अत एव

सब मार्ग—कर्म ज्ञान आदि पुरुषार्थ के साधन प्रायः नष्ट हो गये हैं। कर्मादि मार्ग नष्ट प्राय हो गये उसका प्रकार निम्नलिखित है—

आध्यात्मिक यज्ञादि कर्म करनेवालेको चित्तशुद्धिद्वारा आत्मसुख—अन्तःकरणकी प्रसन्नता प्राप्त होना—ऐसा जिसका अर्थ है वैसा स्वर्ग प्राप्त होवे, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। उसमें पापघटने प्रवेश करके आत्मसुख वाचक 'स्वर्ग' शब्दका 'लोकके रूपमें भ्रम उत्पन्न किया, उससे कर्ममार्गके द्वारा होने वाली चित्तशुद्धि अटक गई (अर्थात् कर्ममार्ग जो कि आत्मसुखका साधन था, उसको संसार ही जिसका फल है ऐसे प्रवाहमार्गका साधन बना दिया)। इसीतरह मायावादका आग्रह करके ज्ञानमार्गका, निरीश्वरवादका अङ्गीकार करके योग(वाङ्मन्य)मार्गका और विभूतिपरक होनेसे उपासनामार्गका 'मुख्यफलसाधकत्व नष्ट करने पर सर्वमार्ग नष्ट हो गये।

शुद्धा—भक्तिमार्गीय जीवोंको भी कलिकाल बाध करेगा ही, क्योंकि वे भी तो गृहादिमें आसक्त रहते हैं, लौकिक क्रिया करते हैं, अतः उनको भी पाप लगनेका सम्भव रहता है, तब फिर आप भक्तिमार्ग से उद्धार होना कहते हैं तथा मुख्यफल साधक कह कर सर्वोत्कृष्टताका समर्पण करते हैं वह असङ्गत प्रतीत होता है। भक्तिमार्ग भी कर्मादि मार्गोंके समान ही है, तब भक्तिमार्गीय आश्रय करनेसे भी क्या होगा ?

समाधान—आप कहते हैं वैसा दोष भक्तिमार्गमें नहीं है। अतः कलिकाल भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिये बाधक नहीं है। प्रत्युत कलिकालमें थोड़े ही समय में फलसिद्धि होने से वह साधकही है। इसके प्रमाण में श्रीमद्भागवतादिके वाक्य विद्यमान हैं।

“हे राजन् ! कलिकाल दोष का निधि है, तथापि उसमें एक महान् गुण विद्यमान है, वह यह कि श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है,” “हे राजन् ! सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञोंसे विष्णुका यजन करने से, और द्वापर में उपासना करने से जो गति प्राप्त होती थी वह कलिकाल में भगवान् के नाम सङ्कीर्तनसे होती है।” “गुणज्ञ और सास्राही आर्यजन कश्चि प्रशंसा करते हैं, क्यों कि कलिकालमें केवल कृष्णसङ्कीर्तनसे ही सब काम सिद्ध होते हैं।” इत्यादि।

भक्तों को गृहादि बाधक नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—“हे भगवन् ! जो मत्त आपके महत्त्वमय नाम तथा रूपका श्रवण करते हैं तथा दूसरोंको सुनाते हैं, स्वयं ध्यान करते हैं तथा सप्रथ म्रियाओं में भी आपके ही चरणकमलमें चित्त लगाकर रहते हैं, उनको पुनः संसारमें आना नहीं पडता है। और भी भागवतमें राजा प्राचीनबर्हिसे पुत्रोंको भगवान् उपदेश करते हैं कि “हे राजकुमारों ! जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर सत्कर्म करते हैं और भेरी चर्चामें ही

रात दिन बिताते हैं उनको यह संसार बन्धन कर्ता नहीं होता है !” इसी प्रकार ब्रह्माजीने भी स्तुति करते हुये कहा है कि “हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य पूर्णतया आपके हुए नहीं हैं तब तक ही उनको रागादि चोरोंसे भय रहता है, घर कारागृहके समान प्रतीत होता है और मोह बेढियोंके समान ” इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तोंके गृह आदि भगवान्केलिये ही होनेकेकारण वे भक्तोंको बन्धनकारक नहीं होते हैं ।

भगवद्भक्तोंकी लौकिक क्रियाएं देखनेमें लौकिकत्व हैं, पर वे सब वास्तविक रूपसे अलौकिकके समान ही हैं । क्यों कि नारदजीने व्यासजीकेप्रति कहा है कि—“सब कर्म, जन्ममरणकी जालमें फँसादेनेवाले हैं, अर्थात् कर्म द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी आशा व्यर्थ है, तथापि यदि वे कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ किये जाँय तो अवश्य मोक्षदायक सिद्ध हो सकते हैं” इस प्रमाणके अनुसार भक्तोंके कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही होनेके कारण लौकिक प्रतीत होनेपरभी उनको अलौकिकके समान ही मानना उचित है ।

असमय में भी वैदिक क्रिया कर सकते हैं ।

यदि भगवत्सेवाके समयमें वैदिक क्रिया न हो सके तो समयका अतिक्रमण हो जानेसे प्रत्यवाय नहीं होगा । क्यों कि स्वयं भगवान् ही श्रीमुखसे आज्ञा करते हैं कि “ मेरी सेवा करते करते यदि वैदिक क्रियाका काल लोप होजाय, तो उस भगवत्सेवापरायण भक्तका छुस-काल कर्म तीन करोड महर्षि करलेते हैं” इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि भगवत्सेवा करते हुए यदि वैदिक कर्म यथासमय न हो सके तो उससे प्रत्यवाय नहीं है । इसी प्रकार “ भगवान् हृदयमें प्रविष्ट होकर सब पापोंको घोते हैं” “ वे भगवदीय मेरे दण्डके पात्र नहीं बनते ” इत्यादि वाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि कदाचित् पाप लग भी जाय तो पातकका फल जो नरकादि होना चाहिये वह भक्तों को भोगना नहीं पडता (किन्तु स्मरण रहे कि यदि कोई दृग्भ्रंसे वैदिक क्रियाओंका त्याग करता है तो वह अवश्य नरक गामी होता है) भगवद्भक्त कीर्तनादिसे ही पापोंको नष्ट करदेते हैं ।

आचार शैथिल्य ।

प्रपत्ति—शरण—मार्गनिष्ठ जीवों से कदाचित् आचारादिका यथोचित पालन न हो तोभी फलसिद्धि होती है । इसविषयमें अर्जुनके प्रति भगवान् आज्ञा करते हैं कि “ हे अर्जुन सब तरहसे अन्य सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरण जा ” “ अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यरूपसे मेरा भजन करता है तो उसको साधुपुरुष समझना चाहिये । क्यों कि उसका निश्चय उत्तम है ” इन भगवद्वाक्यों से, तथा लोकमें मिथ्याचारी, अनाश्रमी होनेपर भी यदि भगवद्भक्त है, तो वह जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसी तरह सारे संसारको पवित्र करता है । इसी प्रकार “ हे राजन् ! भगवद्दर्शमें आस्था—श्रद्धा—रखनेवाला कभी

प्रमादी होता नहीं है, इतनाही नहीं परन्तु यदि वह आँखें बन्दकर के दौड़े तो भी उसको न कहीं ठोकर लगनेका भय रहता है न फिसलनेका । ” इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, कि प्रपत्ति मार्गमें आचारादि के अभावमें भी फल सिद्धि होती है ।

भक्ति समग्र सिद्धिओंका जीवन है ।

श्रीमद्भगवतमें कहा है कि “हे महर्षियो ! भलीभाँति किये हुए यज्ञादि कर्म भी यदि भगवान् में भक्ति उत्पन्न न कर सकें तो वह केवल श्रम ही है ऐसा समझना चाहिये ।” “सत्य और दया से युक्त धर्म तथा तप से प्राप्त की हुई विद्या भी मेरी भक्ति से विहीन मनुष्यको भलीप्रकार पवित्र नहीं बना सकती” । “अच्युत-भगवान् के मात्र विना जो निरञ्जन ज्ञान प्राप्त होता है वह भी भलीप्रकार शोभायमान नहीं होता है, तब जो कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया जाता वह कैसे मुशोभित होसकता है ? फिर चाहे वह कैसा ही निष्काम क्यों न हो ?” “विविध कामनाओंसे परास्त पुरुषकी आत्मा जिस तरह श्रीमृकुन्दकी सेवा करके शान्ति प्राप्त करती है उस प्रकार चमनियमादि सम्पन्न योगमार्गसे शान्ति-लाभ नहीं कर सकती ।” ब्रह्मस्तुति में ब्रह्मानीने भी कहा है कि, “हे भगवन् सकल-कल्याणकारिणी आपकी भक्तिको छोड़कर जो लोग विना प्रेमके केवल शुष्क ज्ञानकेलिये क्लेश सहन करते हैं उनको परिणाममें भी क्लेश ही सहन करना पड़ता है, जैसे धान्यके विना छीलकों को कूटनेवालेको परिणाम में छीलकोंके चूर्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता” इन विविध प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भक्तिके विना कर्म, ज्ञान, कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते । परन्तु यदि वे भक्तिका सहयोग करें तो सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अत एव भक्तिही सकल सिद्धिओंका जीवन है ।

निःसाधन भक्ति भी सर्व साधिका है ।

श्रीमद्भगवत दशमस्कन्ध, अध्याय बीस श्लोक बत्तीस और तैत्तिरीयमें कहा है कि “हे उद्धव ! कर्मकाण्ड, तपस्, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, और इसी प्रकार अन्य भी कल्याणके साधनों द्वारा जो जो कार्य सिद्ध किये जाते हैं, वह सब मेरा भक्त अनायास ही भक्तियोगसे प्राप्त करता है ।” इसी तरह गीतामें भी कहा है कि “हे अर्जुन ! आर्त, निज्ञान, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं ।” श्रीमद्भगवतमें शुकाचार्य भी कहते हैं कि अकाम हो, सर्वकाम हों या मोक्षकी कामनावाला हो, चतुर पुरुष को तीव्र भक्तियोग से परपुरुष का भजन करना चाहिये ।” ब्रह्मानीने भी भक्तकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि “जो लोग ज्ञान प्राप्त करने की इच्छासे परिश्रम न करके भक्तोंके मुखसे निकली हुई भगवान्की पवित्र कथाओंका कानसे श्रवण करते हैं तथा देह, मन, वाणीसे उसका आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वैसे भक्त, हे अभिजित ! यद्यपि आप तीनों लोक में अजेय हैं तथापि आपको सहन ही में जीत लेते हैं ।” “श्रीपति भगवान्के प्रसन्न

होने पर क्या अप्राप्य रहता है ? तथापि हे राजन् ! भगवान्‌के भक्त भगवान् की सेवाके विना अन्य कुछभी चाहते नहीं हैं ।" "सर्वदुःसहर्ता प्रभु अपने भक्तको रूप, आरोग्य, और अर्थ भी प्रदान करते हैं ।" ये सब वाक्य नि साधन भक्ति भी सर्व साधिका है ऐसा सिद्ध करते हैं, भक्ति सर्व साधिका है, इतनाही नहीं, किन्तु स्वयं ही फलरूपा है । इसका समर्पण निम्नाङ्कित वाक्य करते हैं । श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्ध प्रथमाध्याय नवम श्लोक में कहा है कि—“निर्गुण-तामं परिनिष्ठित रहने पर भी मुझे प्रभुकी लीलासे आकृष्ट होकर भागवतशास्त्रका अध्ययन करना पड़ा ।” और प्रथमस्कन्ध सप्तमाध्यायके दशम श्लोकमें वर्णन किया है कि “श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमोहक हैं, कि आत्मामें रमण करने वाले जीवन्मुक्तों को भी प्रभुकी निष्काम भक्ति करने की इच्छा होती है ।” इसी तरह तृतीयस्कन्ध पंचविंशोऽध्यायके चौतीसवें श्लोकमें भगवान् कपिल ने मातृचरण देवदूतिको उत्तम भक्तिका लक्षण समझाते हुए कहा है, कि “मेरी चरण सेवामें तत्पर रहने वाले, मेरेलिये ही सब कर्म करनेवाले और सर्वदा एकत्रित होकर परस्पर प्रेमपूर्वक मेरी कथा कहने में आनन्द प्राप्त करनेवाले ऐसे विलभक्त मेरे साथ एकात्मभावकी—भोसकी भी इच्छा करते नहीं हैं” इत्यादि वाक्य भक्ति स्वयं ही फलरूपा है, इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं ।

आधुनिक समय में कर्मादि मार्गों के अधिकार नष्ट हो जाने के कारण अनधिकारी को कर्मफल प्राप्त नहीं होता है । अतः यदि कर्मादि मार्गोंके अनुसार भी भक्तिमार्ग में रहकर आचरण किया जाय तो अधिकार भेदसे उन मार्गोंमें कहा हुआ गौण अथवा मुख्य फल मिलनेका सम्भव रहता है । भक्तिमार्गमें भक्तको अनुग्रहसे ही अधिकार प्राप्त हो जाता है । यही उपदेश आचार्यचरणोंने निबन्धमें किया है । आपकी आज्ञा इस प्रकार है “इस कलिकाल में सब अधिकार निवृत्त हो गये हैं, पर यदि प्रेम पूर्वक सेवा की जाय तो वह कलियुग भी श्रीकृष्णके भक्तको फलसाधक हो जाता है” । इस वाक्यसे यह भी ज्ञात होता है कि कर्मादिसाध्यफल भक्तिमार्गमें अनिच्छा से भी भक्तको प्राप्त होजाता है, जब कि भक्तिसाध्यफल अन्य मार्गों से सम्पन्न नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि अन्यमार्गोंकी तुल्यताका गन्ध भी भक्तिमार्गमें नहीं है ।

अब यहाँ शङ्का होती है कि, कर्मादि मार्गोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता भक्तिमार्गमें यदि है भी तो रहने दीजिये, परन्तु उसमें अर्धकृत से तो कर्मादि तुल्यता होनी चाहिये । इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि “विष्णु सतत स्मरणीय है, कभी विस्मरणीय नहीं है, इस प्रकार सदा विष्णुका स्मरण करनेवालेके सब विधि और निषेध किङ्कर हो जाते हैं ।” “निस मार्गमें सृष्टि मात्रसे सकल कल्याणके भाजन प्रभु होजाते हैं उस अजन्मा पुरुष श्रीहरिको मैं शरण हूँ ।” “हे श्रीकृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है उस जीवका मैं, जलको भेद कर कमल जिसतरह ऊपर निकलता है उसीतरह नरकसे उद्धार करता हूँ ।”

“हे माधव, आपके जन अन्यकी तरह जन्म मरणके चक्रमें नहीं गिरते।” “सब शास्त्रोंका मथन करके और बारंबार उनका विचार भी करके एकवात निश्चित हुई है कि नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य है।” इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि यदि सर्वोशेषः भक्ति न कीगई हो, थोड़ी भी कीगई हो, तोभी वह भक्ति फलसाधिका है, कर्मादिमार्गमें पैसा नहीं है। अतः प्रकृत विषयमें इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं ॥ १ ॥

पवित्र देश में निवास करनेसे भी धर्मादि पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है, और आप कहते हैं कि अन्य सब साधनोंका त्याग करके श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये इसमें प्रमाण क्या है ? इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि पुण्यस्थान भी इस समय पुरुषार्थसाधक नहीं हैं; यही बात श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं—

स्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अन्वयः—देशेषु स्लेच्छाक्रान्तेषु सत्सु च पापैकनिलयेषु, सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

देश स्लेच्छोंके अधीन हैं। माना कि स्लेच्छोंने देशपर आक्रमण किया है, पर यदि स्लेच्छ भी न्यायपरायण हों तो आपकी क्या हानी है ? इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि स्लेच्छ तो मूर्तिमान् पाप ही हैं, और पुण्यस्थान पापरूप स्लेच्छोंके मुख्यस्थान (राजधानी) बने हैं; दूसरा अर्थ किया जाय तो पापियोंका अथवा पापोंका घर हैं, तीसरा अर्थ यह है कि अज्ञ वद्व आदि देश स्लेच्छों के अधीन है और पाप के भी मुख्य स्थान बन गये हैं, कि जहां जानेसे ही पुनःसंस्कार प्राप्त होता है। यहां यह भी शङ्का हो सकती है कि पुण्य स्थलोंमें भी वणिक् आदि जातिके भले आदमी रहते होंगे, तो फिर स्लेच्छोंसे क्या मतलब है ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वणिक् आदि लोक भी स्वधर्माचरण करनेवालों पर जो आफतें आती हैं उनको देखकर किङ्कर्तव्यविमूढ बन गये हैं, अर्थात् स्वधर्मनिष्ठपर जो आफतें आती हैं उनको देख कर स्वधर्माचरण न करना चाहिये या लौकिक कार्य न करना चाहिये इसका निर्णय वे लोग नहीं कर सकते। अर्थात् सर्वधर्मसे अच्छा ही होगा ऐसा निश्चय उन लोगोंमेंसे चले जानेके कारण धर्म विषयक श्रद्धादिके अभावमें धर्माचरण करनेवालोंको वे सहायक भी नहीं होते हैं। अतः श्रीकृष्णके आश्रयके बिना पवित्र देशोंपर अपने उद्धारका आधार रखना निरर्थक है। श्रीकृष्णका आश्रय करनेवालेको देश भी अनुकूल हो जाते हैं। अत एव श्रीमद्भागवतमें देवोंने “कृष्णसेवा करनेकेलिये भारतवर्षमें मुकुन्दसेनोपयोगी देह प्रदान कीजिये, हम भी भूमिपर जन्म लेना चाहते हैं” ऐसा कहा। इस प्रकार पुण्यभूमिमें स्थिति करनेसे भी, पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है, अतः

श्रीकृष्णका आश्रय ही करना उचित है, अतः मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही हो, ऐसी प्रार्थना श्रीमहाप्रभुजी करते हैं ॥ २ ॥

गङ्गादि तीर्थ भी सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले माने गये हैं, तो फिर आश्रयकी प्रार्थना किसलिये करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वोक्त देशादि छः प्रकारके साधनोंमें से तृतीय साधन द्रव्य भी फलसिद्धि नहीं करता है यह दर्शानेकेलिये तीर्थ भी साधक नहीं हैं ऐसा निरूपण करते हैं:—

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

अन्वयः—इह गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

गङ्गा आदि मुख्य तीर्थ दुर्जनोंसे ही आवृत हैं । गङ्गादि तीर्थोंमें ब्राह्मणादि भी रहते हैं, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि सब तीर्थ दुष्टोंसे ही सेवित हैं ? ब्राह्मणादि की स्थिति वहां नित्य रहती है इस कारण अतिपरिचयसे उनकी तीर्थोंके प्रति आदर-बुद्धि कम हो जाती है, तथा वे दान दक्षिणादिसे निर्वाह करते हैं, इसलिये उनके पीछे भी उपाधियाँ लगी ही रहती हैं, अतएव उन में भी दुष्टता रहती ही है । सर्वविध दोषोंको दूर करनेवाले तीर्थ वहां विद्यमान हैं तो फिर उनमें दोष किस प्रकार रह सकता है; ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती । उसका कारण यह है कि उनमें स्थित भगवान्से बहिर्मुखता तथा नास्तिकता आदि दोषोंका निवारण तीर्थ भी कर नहीं सकते । यह बात निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होती है । “सौ बार अच्छी तरह मिट्टी लगाकर जन्मसे आजतक प्रतिदिन स्नान करनेवाला भावदुष्ट मनुष्य, गङ्गाके सम्पूर्ण जलसे भी शुद्ध नहीं हो सकता । ऐसा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं; मत्स्यादि जलमें रहनेवाले प्राणी रातदिन (गङ्गाआदिके) जलमें ही रहते हैं, परन्तु वे कभी स्नानके फलको प्राप्त नहीं कर सकते ।” “मनुष्य जो कर्म श्रद्धा और विधिपूर्वक शुद्ध भावसे करते हैं, वही उसके असत्य सुखकेलिये कल्पित होते हैं; अर्थात् उन्हींसे उनको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ।” “विधि और श्रद्धासे रहित और भावदुष्ट किये हुए कर्मका फल मनुष्यको प्राप्त नहीं होता है; इसका कारण यह है कि जैसे कर्मका फल असुर हरण करलेते हैं । अतः विधिहीन और भावदुष्ट कर्म करनेवाला अत्यन्त मूढ़ तथा अकृतार्थ समझना चाहिये । श्रद्धारहित, दुष्ट अन्तःकरणवाला, नास्तिक, संशयग्रस्त और कारणवादी ये पाँचों तीर्थके फलको प्राप्त नहीं करते हैं ।” “जिस तरह गङ्गा आदि नदियाँ मदिरासे पूर्ण घटको पवित्र नहीं बनादेती है, उसी तरह नारायणसे विमुख मनुष्यको कोई भी प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकता ।” ये सब आदित्य पुराण, योगिया-जबलक्य, वायुपुराण तथा श्रीमद्भागवतके वचनों से सिद्ध होता है, कि तीर्थों में भगवान् से बहिर्मुख तथा नास्तिक मनुष्यको पवित्र बनानेकी सामर्थ्य नहीं होती है ।

यहां इस तरह शङ्का होती है कि—वस्तुमें शक्ति होनेपर कार्य अवश्य होता है, वह हुए बिना रहता ही नहीं, जैसे दाहकत्व शक्ति अग्नि में विद्यमान है, और, वह जलाती नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार तीर्थमें पवित्र करने की शक्तिके विद्यमान रहते वे पवित्र नहीं कर सकते, ऐसा कदापि न होगा।

इसका समाधान करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, कि तीर्थों में पवित्र करने-वाला जो आधिदैविक स्वरूप है वह तिरोहित हो गया है, अतः तीर्थ उनको पवित्र नहीं कर सकते। तीर्थोंका आधिदैविक स्वरूप सत्पुरुषोंके सम्पर्कसे ही प्रादुर्भूत होता है, अत एव निबन्ध में आपने कहा है कि “काशी आदि तीर्थोंमें किसी समय किसी एकाव की मुक्ति होती है” तब समझना चाहिये कि जीवके ऊपर प्रभुने अनुग्रह किया है।” प्रभुके अनुग्रहके बिना किसी की भी मुक्ति नहीं होती है। प्रभु तीर्थोंका माहात्म्य बढ़ानेके लिये तीर्थोंके द्वारा भी किसीको मोक्ष प्रदान करते हैं। और श्रीमद्भगवत में भी कहा है कि भगवद्भक्त तीर्थोंमें स्नान करते समय अपने हृदयकमल में विराजमान प्रभुके साथ तीर्थोंका सङ्ग करा कर तीर्थों को पवित्र बनाते हैं। अर्थात् तिरोहित आधिदैविक स्वरूप उनमें प्रकट कर देते हैं, इसको तीर्थीकरण कहते हैं। अन्य प्रकारसे तीर्थों को और क्या तीर्थ बनाना है? जल में कुछ दोष तो दिखाई देते ही नहीं। इस प्रकार द्रव्यस्वरूप तीर्थों में भी स्वतन्त्ररूपसे पुरुषार्थ सिद्ध करने की सामर्थ्य विद्यमान नहीं है अतः श्रीकृष्णका आश्रय ही रक्षणीय है ॥ ३ ॥

यदि कर्म करनेवाला अच्छा हो तो सब फल प्राप्त हो सकता है। तो फिर अन्य का निषेध कर आश्रयकी ही प्रार्थना क्यों? इस शङ्काका समाधान करके कर्मकरने वालोंका स्वरूप भी फल सिद्ध नहीं कर सकता, यही बात चतुर्थ श्लोक में निरूपण करते हैं:—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अन्वयः—सत्सु अहङ्कारविमूढेषु पापानुवर्तिषु लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्णः एव मम गतिः अस्तु ।

अहङ्कारके बशीभूत पण्डितगण—हम ही शास्त्रज्ञ हैं अन्य कोई नहीं—इत्यादि प्रकार के भिव्याभिमानसे विमूढ हो गये हैं। जिस तरह उनका ज्ञान अभिमानके हो जाने से दूषित हो गया है, वैसे ही उनकी कृति भी दूषित हो गई है। इसका कारण यह है कि वे लोग द्रव्यादि का लाभ और पूजा के लिये ही यत्न करने वाले होते हैं। विष्णुयागादिक पारमार्थिक कर्म भी वे लोग ऐसा समझकर ही करते हैं कि—इससे हमको द्रव्य प्राप्त होगा और लोकमें प्रतिष्ठा बढ़ेगी। साथ ही कुछ पुरुषोंका सङ्ग करनेसे सङ्गन्य दुष्टता और पापका अनुसरण करनेसे अज्ञान्य दुष्टता इसप्रकार दोनों प्रकारकी दुष्टता उनमें होनेसे वे पण्डित भी स्वतन्त्रतासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु भगवदाश्रय करके भगवत्कृपासे वेदार्थ और स्वदोष की स्फूर्ति होने

होता है। क्योंकि इन वाक्यों में जीव को प्रवृत्त कराने वाला, सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण, जीवमात्रके लिये सेव्य, सर्वविध कर्मोंका फलदाता एकमात्र भगवान् ही है ऐसा कहा है। सब जैमिनिके मतके अनुसार उपपन्न नहीं हो सकता इसी तरह यज्ञोंसे देवों की तृप्ति तथा देवोंने यज्ञ किया ऐसा प्रतिपादन भी किया गया है। अतः यह भी स्वीकार करना चाहिये कि मन्त्रकी देवता मन्त्रसे पृथक् हैं और वह चेतन रूपा है।

“हे अर्जुन ! उसके पश्चात् मुझे तत्त्वतः जानकर मेरेमें प्रवेश करते हैं।”
 “हे अर्जुन ! तू मुझे ही प्राप्त करेगा।” “ब्रह्मका आकार आनन्द है” इन वाक्योंमें भगवत्सायुज्यको मोक्ष कहा है। तथा आनन्दाकार होनेके कारण भगवान्को ही फल कहा है। जिसमें आनन्दका अनुभव हो वही फल है अतः न्याय और साहच्य मत भी श्रौतसिद्धान्तके अनुकूल नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह भिन्न भिन्न वादोंके द्वारा जो कर्म का विनाश हुआ है उसका दिग्दर्शन कराके अब उन वादोंके द्वारा जो व्रतादिका विनाश किया गया है वह भी बताते हैं स्वमत के आग्रह से वे लोग एकादश्यादि व्रत भी दशमीके वेष से युक्त ही करते हैं, जिसका कि शास्त्रों में पूर्ण निषेध है। इस प्रकार व्रतोंका भी विनाश हो चुका है। यद्यपि व्रत भी एक प्रकारका कर्म ही है तथापि वह ज्ञानादिका अङ्ग होने से यहाँ उसका कर्मसे पृथक् उपादान किया गया है।

अब यहाँ शङ्का उपस्थित होती है कि एकादश्यादि व्रत करनेका वे लोग भी उपदेश करते हैं और स्वयं भी करते हैं, यदि वे लोग व्रतों को मिथ्या, फलरहित मानते होते तो वे क्यों आचरण करते हैं और उपदेश करते हैं ? साथ ही उन मतोंके प्रवर्तक शङ्कर जैमिनी गौतम आदि हैं। यह शङ्का भी अयुक्त है क्योंकि उनका प्रयास पाषण्डका प्रचारकरनेके लिये ही है। यह बात वाराह पुराण के “हे महाबाहु रुद्र ! तुम मोह शास्त्रों की रचना कराओ और सत्यको मिथ्या बताओ, अपने स्वरूप का प्रकाश करो और मुझे गुप्त रहनेदो” इह सार्धश्लोकसे तथा पद्मपुराणके “त्वामाराध्य तथा शम्भो गृहीष्यामि वरं सदा। द्वापररादौ युगे भूत्वा कलयामानुपादिषु ॥ स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्भिः सुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेपोत्तरोत्तरा ॥” हे शम्भो ! द्वापररादियुगमें मैं कलात्मक अवतार लेकर मनुष्यादिकमें तुझारा अराधन करके वर ग्रहण करूंगा और आपको नवीन शास्त्रोंकी कल्पना करके लोगोंको मेरेसे विमुख करना चाहिये, और मेरे स्वरूपको छिपा-

१ त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ।

अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज ॥

प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च माङ्कव ॥

कर अपना स्वरूप ही प्रगट करना चाहिये, ताकि यह सृष्टि उत्तरोत्तर चलती रहे। इस भगव-
दाज्ञाके अनुसार शाङ्करादिकी प्रवृत्ति है, वे लोग भी जो कर्म करते हैं वह भी अपनी महत्ता
दर्शनकेलिये ही करते हैं, साथ ही उनका यह भी उद्देश रहता है कि उनके अनुयायी भी वैसा ही
कर्म करें। यदि ये लोग स्वयं वैसा न करके अनुयायियोंको ही उपदेश करें तो उनका कोई
मानेगा भी नहीं। गीतामें भी कहा है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।" अर्थात् जिस
प्रकारका आचरण महत्पुरुषोंका रहता है, उसी प्रकारका आचरण अन्यलोग भी करते हैं।
इसी न्यायके अनुसार यदि वे स्वयं न करें तो उनके उपदेशके अनुसार अन्यलोग कैसे चल
सकते हैं? शङ्करादि मतप्रवर्तकोंके द्वारा आधुनिक लीगोंमें मोह उत्पन्न हो गया है।

ये मतप्रवर्तक प्रायः सब देवता हैं—तो फिर आप देवताओंसे प्रवर्तित मतोंको प्राप्त-
मत क्यों कहते हैं? ऐसी शङ्का भी उपस्थित नहीं हो सकती। क्यों कि मतप्रवर्तक देवता है
इतना एकमात्र कारण रहने से ही वह मत सन्मत है ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु जो मत
वेदसे विरुद्ध न हो और वेदमूलक हो उसीको सन्मत कह सकते हैं। अन्यथा वृहस्पति प्रव-
र्तित चार्वाक (नास्तिक) मतको भी सन्मत कहनेकी आपत्ति उपस्थित होगी। इस तरह प्रस-
त्ताप्रसक्तसेही अटकना ठीक है। ये विविधवाद भी कर्मफलसाधक नहीं हैं; अतः मेरी गति-
आश्रय—श्रोतृष्ण ही है ॥ ६ ॥

धर्मसे पाप दूर होता है" "धर्ममें सब प्रतिष्ठित है" यह श्रुति पहिले जीवको दोष
निवृत्तिकेलिये धर्माचरण करनेकी अवश्यकता बताती है। यह ठीक भी है, कि धर्माचरणके
द्वारा चित्तशुद्धि होनेसे भगवन्माहात्म्य तथा भगवत्स्वरूपकी समझकर ही भागवतशाश्रवादि करने
चाहिये, नकि पूर्वकी दोषयुक्त अवस्थामें। कहां योगियों को भी अगम्य भगवत्स्वरूप और कहां
यह दोषयुक्त जीव, वह उसको कैसे प्राप्त कर सकता है? इस तरह शङ्का करके "जित्तको
यह भगवान् वरण करते हैं उसीको वह लभ्य है।" "हे रतूगण! भगवान्के स्वरूपकाज्ञान,
तपसे वा वैदिक कर्मोंसे, अन्नादिके दानसे परोपकारसे, वेदाध्ययनसे, जल, अग्नि और सूर्यादिकी
उपासनासे प्राप्त नहीं होता है। परन्तु भगवद्भक्तोंके चरणकी रज शिरपर धारण करनेसे ही—
अर्थात् भक्तोंकी सेवा करनेसे ही—प्राप्त होता है।" "हे अर्जुन! मेरी अनन्य भक्तिसे ही मेरे
स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान, जैसा कि तुझे हुआ है, मनुष्य को हो सकता है। हे परन्तप! भक्तिसे
ही मैं तत्त्वतः ज्ञात हो सकता हूं और वे जीव (जिहों मेरा स्वरूप तत्त्वतः जानलिया है)
मेरे भीतर प्रवेश कर सकते हैं।" इत्यादि वाक्य स्पष्टतया यह सिद्धांत दर्शाते हैं कि भगव-
दीयके अनुग्रहसे सद्दोषजीवको भी भगवत्स्वरूप गम्य हो सकता है, इसलिये, और भगवान्का
माहात्म्य भी शास्त्रोंमें वैसा ही—अधमोद्धारक आदि—प्रसिद्ध है इसलिये भी सद्दोषजीवोंकेलिये
दोषनिवृत्तिके अर्थ प्रायश्चित्तादि नहीं, पर महापुरुष, श्रीमदाचार्यचरण एवं उनके वंशजके द्वारा शरण
ग्रहण करना ही है। उसीसे सब कुछसिद्ध हो जायगा। अर्थात् भक्तोंके धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थरूप
भगवान् ही होने के कारण भक्तोंको भगवान्के आश्रयके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहनाता है।

पर फल सिद्धि कर सकते हैं, क्यों की वेदका तात्पर्य भगवान् या भगवद्भक्त जानते हैं, ऐसा होनेसे भगवदीय होनेसे ही वेदका तात्पर्य समझ सकते हैं । इस तरह भगवदाश्रयके बिना पण्डित भी कुछ सिद्ध नहीं कर सकते । अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय होवे ॥ ४ ॥

सुनते हैं कि शास्त्रों में मन्त्रों से फल सिद्धि बताई है, तो फिर आश्रय ही करनेकी क्या आवश्यकता है ? मन्त्रों की शक्ति भी नष्ट होगई है, अतः मन्त्र भी कुछ नहीं कर सकते यह दर्शाते हैं:—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अन्वयः—मन्त्रेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अव्रतयोगिषु तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

वेदोक्त तथा नारदपंचरात्रादि आगमोक्त मन्त्र; तात्पर्य, फल तथा देवताके स्वरूपज्ञानके अपात्रसे नष्ट हो गये हैं । वैदिग्मन्त्र नियमपूर्वक पठे नहीं जाते, अतः उनका सामर्थ्य नष्ट हो गया है । वेदाध्ययनके नियम गुरुकुलमें निवासकरना, ब्रह्मचर्यपालनकरना, शूद्रोंके सामने न पढ़ना, अनध्यायके दिनोंमें न पढ़ना इत्यादि है । तान्त्रिक मन्त्रोंका तात्पर्यही समझमें नहीं आता है, अतः उसका अर्थ और फल समर्पक देवता उन मन्त्रोंसे तिरोहित हो गई हैं, इस तरह तान्त्रिक मन्त्रोंका भी सामर्थ्य नष्ट हो गया है । तथापि भगवान्का ही आश्रय रखनेवालेको मन्त्रोंसे भी फल प्राप्त होता है । इसके विषयमें “जिसके स्मरणसे और नामका उच्चारण करनेसे कर्म की त्रुटि पूरीकी जाती है, उस अच्युत भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ।” इत्यादि वाक्य प्रमाण है । इस तरह मंत्र भी नष्ट सामर्थ्यवाले होनेसे मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही है ॥ ५ ॥

मीमांसा आदिसे मंत्रोंके अर्थका निर्णय करके कर्मसे ही फल प्राप्त हो सकता है तो फिर आश्रय की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शङ्का करके कर्म भी फल साधक नहीं है यह जतानेकेलिये नीचेके श्लोकसे आश्रयकी प्रार्थना करते हैं:—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मव्रतादिषु नानावादविनष्टेषु पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु । सोमयाग आदि सब कर्म और एकादशी आदि सब व्रत विविध वादोंसे नष्ट हो चुके हैं । वे वाद इस प्रकार हैं—

(१) सारा प्रपञ्चमिथ्या है, अर्थात् वेदभी प्रपञ्चमध्यपाती होनेके कारण मिथ्या हैं, अतः जैसे प्रपञ्च व्यावहारिक होनेके कारण व्यवहारमें ही प्रमाण है वैसेही वेद और वेद-

विहित कर्मको भी व्यवहारमें ही प्रमाण मानना चाहिये। वास्तविकरीतिसे कुछभी करनेका या प्राप्तकरनेका नहीं है।

(२) पूर्वमीमांसाकारका मत है कि "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोत्रे" इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मा आदिका उत्कर्षभी यज्ञोंके द्वारा ही सुना जाता है। और उत्तरोत्तर कर्ममें प्रवृत्त होनेमें पूर्ववासना ही कारण होनेसे कर्म ही करना चाहिये। कर्मसे ही फलसिद्धि होगी। कर्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपास्य, फलदाता; किंवा प्रवर्तक नहीं है। इसी तरह मन्त्रकी देवता भी मन्त्रसे पृथक् चेतनरूपा कोई नहीं है, किन्तु मन्त्ररूपा ही है। अर्थात् किसी देवताकी कृपा सम्पादन करके किसी प्रकारके फल की प्राप्ति करनेके लिये भी कर्मके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु उपर्युक्त प्रकारसे उपास्य, फलदाता या प्रवर्तक सब कुछ कर्म ही है।

(३) नैयायिकों का मत है कि शास्त्रसे प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका ध्वज्यन मनन और निदिध्यासन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है, तब दुःख की आत्यन्तिकी नियुक्ति होकर जाती है, यही फल है। ईश्वरोपासना करनेकी अथवा ईश्वरको ही फलरूप माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) निरीश्वर वादी साङ्ख्यियोंका मत है कि प्रकृति और उसके विकारों की उपाधिका विलय करके पुरुष जब अपनी स्थिति करता है वही फल है, भगवान् फल नहीं है।

इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारके वाद प्रचलित है। इनसे विशेषकर कर्मोंका नाश किया गया है। अतः उलटा ही अर्थ ग्रहण कर लेनेसे कर्म भी फलोत्पादक नहीं रहे। संज्ञा वैदिक सिद्धान्त देखनेसे ये सब वाद एक प्रकारके प्रलय की तरह प्रतीत होते हैं। क्योंकि "यह सब पुरुष ही है" "यह सब ब्रह्मात्मक है" वह भगवान् सबको वशीभूत रखता है सबके ऊपर शासन करता है, इत्यादि वाक्य यह सब प्रपञ्च ब्रह्मरूप है, और अत एव सत्य हैं, इसलिये कर्म भी सफल है यह बताते हैं। अत एव साङ्ख्य सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है।

"भगवान् उसी से अच्छे कर्म कराता है जिसको ऊंची गति से लेजाना है। और उसीसे निकृष्ट कर्म कराता है जिसको अधोगति से ले जाना है।" "हे अर्जुन मैं ही समग्र जगत् की उत्पत्तिकारण हूँ।" "भला ऐसा कौन देह धारी है जो मुकुन्द भगवान् का भजन न करेगा।" "देव हो, असुर हो, मनुष्य हो यक्ष या गन्धर्व हो, मुकुन्द भगवान् के चरणों की सेवा करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं।" "भगवान् ही सबके फल दाता हैं, क्योंकि जो सबके नियामक ही वही फलदाता सकता है। यज्ञ तृप्त हुए देवता यज्ञ करनेवाले को तृप्त करते हैं।" "निश्चय ही देवोंमें यज्ञ किया था।" इत्यादि प्रमाणों से जैमिनी का मत भी श्रुति सृष्टि और व्यास सूत्रों से विरुद्धसिद्ध

भगवान् भक्तोंके धर्मादिरूप किस प्रकार हैं यह निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता है:—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अन्वयः—अजामिलादिदोषाणां नाशकः, अनुभवे स्थितः ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव मम गतिरस्तु ॥

अजामिल, गजेन्द्र, अहल्या आदिको अपने दोषके नाशकरने वाले भगवान् हैं ऐसा अनुभव हुआ था। अथवा अजामिलके अतिरिक्त अन्यभक्तोंके अनुभवमें आप दोषनाशकरूपसे आये थे। अजामिलका उद्धार परम्परा सम्बन्धसे अपने नामके द्वारा किया था। इसमें अपना सम्पूर्ण माहात्म्य भी दर्शाया है। इन तीन विशेषणोंसे धर्मका कार्य—पापको दूर करके इष्टकी प्राप्तिकराना वह भी भगवान् स्वयं करते हैं। इसलिये दोषके उपस्थित होनेपर भी भक्तोंको दोषनिराकरणार्थ शरणकी भावना ही करनी चाहिये प्रायश्चित्तादि करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा परम्परा सम्बन्ध से भी आप दोष निवारक हैं। (साक्षात् सम्बन्ध होजाय तब क्या कहना है?) अजामिल का उद्धार आपने अपने नामके साम्यसे किया। भक्तोंके अनुभवसे आप अनुभवमें आते हैं, इसी तरह लीलारूप निखिल माहात्म्य भी आप ही दर्शाते हैं; अतः श्रीकृष्ण ही मेरी गति—आश्रय—होवै ॥ ७ ॥

“सदा अध्ययनकरना चाहिये” जिस जिस यज्ञका अध्ययन करते हैं उन उन मन्त्रों का फल अध्येता को प्राप्त होता है, अग्नि, वायु और सूर्यका सायुज्य प्राप्त होता है” इत्यादि श्रुतितसे कर्म मार्गमें स्थित रह कर भी ब्रह्मयज्ञ अध्ययनके द्वारा अग्नि आदिका सायुज्य प्राप्त कर सकता है, इसी तरह “जो लोग अव्यक्त, अवर्णनीय, सर्वव्यापी अक्षर की उपासना करते हैं वे मेरे अक्षर रूपको प्राप्त होते हैं” इत्यादि वाक्य ज्ञानसे भी अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति बताते हैं, तब फिर श्रीकृष्णका आश्रय करनेमें क्या विशेषता है? और यदि विशेषता न हो तो उसकी प्रार्थना भी क्यों करें? ऐसी शङ्का करके उन उन देवताओं और अक्षरके सायुज्यके बीचमें तथा अक्षर और श्रीकृष्णके सायुज्यके बीचमें क्या न्यूनाधिक्य रहा है यह समझानेकेलिये सब स्वरूपोंका निरूपण करके भगवान् भक्तोंके अर्थरूप किस प्रकार है वह बताते हैं:—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णाानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

१ यहाँ पूर्णानन्दशब्दके तीन अर्थोंका स्वीकार किया है। (१) पूर्ण आनन्दसे जो होता है (२) पूर्ण आनन्द जिसमें है (३) जिससे पूर्ण आनन्द होता है। प्रथम अर्थकी यह स्वारस्य है कि मर्यादा पुष्टिभक्तिको पूर्णानन्दका दान करने में आप साधन सापेक्ष है, द्वितीय अर्थसे आप पूर्ण आनन्द स्वरूप है, गणितानन्द नहीं। तीसरेका अर्थ पुष्टि भक्तोंके पूर्णानन्दका दान करनेमें आप साधन निरपेक्ष है।

सकला देवाः प्राकृताः बृहत् गणितानन्दकम्, पूर्णानन्दः हरिः, तस्मात् कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ॥

सब देवोंकी उत्पत्ति सत्त्वाहङ्कारसे हुई है अतः वे सब देवगण अपनी-उत्पादिका प्रकृति-त्रिगुणात्मिका माया-के अधीन है। अक्षरब्रह्म गणितानन्द है। अब "उस आनन्दका विचार यहां होता है" इस वाक्यसे प्रारम्भकरके "प्रेनापति आदिके आनन्दसे शत गुणित-अधिक आनन्द वह अक्षर ब्रह्मका आनन्द है" इस वाक्योक्त सम्पूर्ण प्रपाठकसे अक्षर ब्रह्मके आनन्दकी गणना की गई है। और यदि ब्रह्मादि देवोंका सायुज्य भी प्राप्त हो तो भी क्या हुआ? वहांसे भी तो जीवको संसारमें आनेका सम्भव रहता ही है इसका कारण यह है कि भगव-द्वीताके नवमाध्यायका सोलहवाँ श्लोक "हे कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त होनेवाला जीव ही फिरसे इस संसारमें आता नहीं है।" इस वाक्यके अनुसार ब्रह्मा पर्यन्त सबदेवोंके साथ सायुज्य होने पर भी वह सायुज्य नहीं माना जाता, वह सायुज्य गुणातीतके साथ न होनेके कारण और संसारमें फिर उत्पन्न होना पडता है इसलिये तथा अल्पसुख वाला होनेसे 'पुण्यसीण होनेसे स्वर्गसे गिरता है' इस वाक्यके अनुसार जैसे स्वर्गमें जानेका नाम मोक्ष नहीं है वैसे ही वह सायुज्य सावधिक होनेसे मोक्षरूप नहीं हो सकता। अब रही ज्ञान मार्गीय अक्षर ब्रह्मके साथ सायुज्य की बात, सो तो यद्यपि अक्षर ब्रह्ममें लय होना निर्गुण मुक्ति हो सकती है, तथापि उसमें भी परिमित ही सुख होनेके कारण अत्यन्त ध्रुवार्तको अतीत स्वल्पमोजन तुल्य नहीं कर सकता उसी तरह बहुत समयसे आनन्दकी गवेषणा करनेवाले जीवात्माको गणि-तानन्द प्राप्त होने पर भी क्या होगा? उसको तो पूर्णानन्द प्राप्त होने पर ही तृप्ति होगी। यहां एक बात विचार करने योग्य है, वह यह कि गणितानन्दका व्याकरणकी रीतिसे क्या अर्थ है—“गणितानन्द” में “क” प्रत्यय अज्ञातार्थ और वह स्वार्थमें हुआ है। उसका तात्पर्य यह है कि अक्षर ब्रह्मका आनन्द पुरुषोत्तमके आनन्दकी अपेक्षा अस्पष्ट एवं न्यून है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण मुक्तिके दाता तथा पूर्णानन्द होनेके कारण उनका ही आश्रय रक्षणीय है।

“वही यह यदुकुलश्रेष्ठ और कुरुकुलश्रेष्ठ नारायण और नर भगवान् हरिके अंशरूपसे पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये अवतीर्ण हुए हैं” “हरिके अंशरूप नर और नारायणसे पृथ्वी अतीव शोभाको प्राप्त होती है।” इत्यादि वाक्योंसे श्रीकृष्णको तो अंश-रूप कहते हैं, और आप यहां बतते हैं कि वे पूर्ण हैं यह कैसे सम्भव हो सकता है? साथ ही 'भगवान्ने जन्मलिया' इत्यादि वाक्यसे भगवान्का जन्म भी सुनानाता है, अर्थात् देवादिकके देह भी पंचभौतिक तथा उत्पत्तिशाली होनेसे भगवान्के श्रीअङ्गको भी पाञ्चभौतिक एवं जन्म

कहना चाहिये । इसी तरह यह आनन्द रूपत्वका प्रतिपादन करते हैं यहभी किस तरह माना-जाय ? और मुनिये, आनन्द अन्तःकरणका धर्म होनेको कारण भगवान्को आनन्दरूप एवं आनन्द जनक किस तरह कह सकते है ? इससे तात्पर्य यह निकलता है कि आपके कहनेके अनुरूप भगवान्का पूर्णत्व, आनन्दाकारत्व, आनन्दवत्त्व, अथवा आनन्दजनकत्व ऊपर बताये हुये प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सकता ?

अब इस लम्बे चौड़े पूर्ववर्षोंका समाधान भी मुन लीजिये जो लोग उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत करते हैं उनको उन प्रमाणोंका अर्थ ही ज्ञात नहीं है । भक्तोंकी आर्तिक नाश कर उनको आनन्दका दान करना यही भगवान्के अवतारका मुख्य प्रयोजन है । यही प्रयोजन यहाँ सिद्ध करना है इसीलिये भगवान् मूल स्वरूपसे अवतीर्ण हुए । पृथ्वीका भार भी दूर करना या इसलिये अपने अंशभूत नर और नारायणभी यदुकुलोत्पन्न नारायण और कुरुकुलोत्पन्न अर्जुनमें आविर्भूत है । अर्थात् यदुकुलश्रेष्ठ एवं कुरुकुलश्रेष्ठमें उन अंशोंने प्रवेश किया है, अत एव वे दोनों यदूद्वह और कुरुद्वह हुए हैं । जो मूलस्वरूप है । उसमें अंशत्वकी सम्भावना न होनेके कारण यदूद्वहत्व और कुरुद्वहत्व न था । तात्पर्य यह कि तत्त्वकार्योंको सम्पादन करनेके हेतु भगवान्को व्यूहों में तत्तदंशों की अवश्यकता रहती है, अतः नर और नारायण भी सङ्कर्षणांश होनेके कारण भूभार हरणार्थ अपेक्षितथे । भगवान् भक्तोंकी आर्तिनिवृत्ति करते हुए आनन्ददानार्थ पूर्णरूपसे तथा भूभारहरणार्थ सङ्कर्षणके अंशरूप नरनारायण को भी अपने में प्रविष्ट-कराकर प्रकट हुए । इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त वाक्यों में उभय अंशों को ही अवतार माना जाय । अन्यथा पूर्णका अवतार न माननेसे “कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं” “वसुदेव के गृहमें परपुरुष भगवान् प्रकट होंगे” इत्यादि वाक्यस्तोम विरुद्ध हो जायगा । अतएव तत्त्वार्थदीपके भावतार्थ प्रकरणमें आप आज्ञा करते हैं कि “पुष्टिकार्य करनेकेलिये नारायणसे अतिरिक्त स्वरूपसे भगवान् आविर्भूत हुए हैं” नर तो स्वयं आवेशाचरक है, भूभार हरण के अतिरिक्त कार्य, पूर्ण कृष्णसे ही किया जाता है, अन्यसे नहीं । “परित्राणाय साधूनां” यह वाक्य मर्यादा भक्तोंका रक्षण करनेकेलिये अंशावतारका द्योतक है, और भक्तोंकी आर्ति निवृत्तिपूर्वक आनन्ददानकरण यह पुष्टि है । इस उन प्रकारके मार्गोंका स्थापन करनेकेलिये अवतीर्ण भगवान् भी यदि अंशरूपसे ही अवतीर्ण हों और पूर्णरूपसे न हों तो पुष्टिकार्य सिद्ध न होता । अतएव अपने दोनों अंशोंसे पृथ्वीको सुशोभित की ।” इस प्रकार विचार करनेसे मानना पड़ेगा कि भगवान् का अवतार श्रीकृष्णरूपसे पूर्णावतार ही है । परन्तु तत्त्वकार्योंको सम्पादन करनेकेलिये उनके भीतर उभय अंश प्रविष्ट है । तथा देहके साथ रहनेवाला पांचभौतिकत्व वा न्यूनत्व आदि नियम भी प्राकृत देहकेलिये ही समझना चाहिये । अप्राकृतके विषय में तो वेदके अनुसार ही अर्थसिद्ध करना पड़ेगा । अर्थात् भगवान् श्री कृष्णका श्रीअङ्ग अप्राकृत होनेसे “आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिः” इत्यादि शुशुक्त आनन्द मात्र ही

जानना उचित होगा। अन्यथा प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंका नियम समान होजानेसे अस्म-
दादिके ज्ञान इच्छा आदिके समान ही भगवान्के ज्ञान इच्छा आदिको भी—अनित्यत्व प्राप्त होगा।

“भगवान् का कर्तृत्व तो, ज्ञान इच्छा आदिसे भी उपपन्न हो सकता है, उसी तरह देहका आनन्दमयत्व तथा नित्यत्व प्रत्यक्षसे भी बाधित है, तो फिर आनन्दमय तथा नित्य देहका स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो वह भी अनुपपन्न होगी। क्योंकि “जहां जहां कर्तृत्व रहता है वहां वहां देहवत्ता भी रहती है। जैसे घटके प्रति कुम्हारका कर्तृत्व कहने से वह कुम्भकारभी देहवारी है ऐसा ज्ञान अवश्य ही होता है। इसी तरह “जहां जहां देहवत्ता नहीं है वहां वहां कर्तृत्व भी नहीं है” ऐसा भी नियम ही है। जैसे मोक्षको प्राप्त किये हुए जीवात्मामें देहवत्ता न होनेसे उसमें कर्तृत्व भी नहीं है। इस अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तिके चलसे कर्तृत्वका निर्वाह करनेके लिये ही जैसे नित्यज्ञानका स्वीकार करते हैं वैसे ही आनन्दमय एवं नित्यदेहका भी स्वीकार करना पड़ेगा। साथ ही प्रभुका जन्म भी शास्त्रोंमें सुनाजाता है। अतः प्रभुके देहका जन्म न माननेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि नित्य और सर्वत्र व्याप्त ऐसे अपरिच्छिन्नवपुका परिच्छिन्नरूपसे प्रगट करना यही जन्म कहा जाता है। “आनन्दसे ही यह सत्र भूतमात्र उत्पन्न होते हैं” “ब्रह्म नित्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दरूप है” “वह सैषवके तुकड़ेके समान भीतर बहार समग्र ही रसत्रन है, ऐसा निश्चय यह आत्मा भीतर और बहार समग्र ही प्रदानवन है” “ब्रह्म का आकार आनन्द है” “वह आनन्दमय है, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयस्वरूपकी बार बार उक्ति है” “श्रुति ब्रह्मको आनन्दमात्र कहती है” “आप केवल आनन्दानुभव स्वरूप हैं” “भगवान् के धीहस्त, चरणारविन्द, श्रीमुख, आदि अवयव आनन्द मात्र हैं” “गुण और लीलाके अनुसार आपके पुत्रके अनेक नाम तथा रूप हैं” “तीनों वेद, सत्र उप-निषदे, साद्ब्रह्म, योग तथा इन्द्रादि भक्त ‘परब्रह्म’ ‘भगवान्’ कहकर जिसके माहात्म्यका गान कर रहे हैं, उसको श्री यशोदाजीने अपना आत्मज (पुत्र) माना है” “जिसका भीतर या बहार, पूर्व या पर नहीं है; और जो स्वयं जगत्का पूर्व तथा पर एवं भीतर और बाहर है, वह जगद्रूप है” इत्यादि वेद, व्याससूत्र तथा पुराणोंमें अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसी तरह प्रमाण प्रकरणीय वाल्मीकीआसे ज्ञात होता है, कि भगवान् श्रीकृष्ण अंशावतार नहीं पर पूर्णावतार ही है। वैसे ही अस्मदादिक की तरह ‘आनन्द’ यह कुछ केवल आत्मा का गुण होकर ही भगवान् में स्थित नहीं है, किन्तु प्रभुका श्रीअङ्ग, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण यह सब आनन्दरूप है। साथ ही ज्ञानस्वरूप है। और “ब्रह्म त्रिकालाबाधित तथा विज्ञान स्वरूप है” “ब्रह्मके आद्युष्य की समाप्ति होनेपर महाप्रलय उपस्थित होता है जब चौदह-लोकके महाभूतों में लीन हो जानेपर, महाभूत अपने कारणभूत अहङ्कार में लीन हो जाता है, और अहङ्कार अपने कारणभूत महत्त्वमें लीन होता है, महत्त्व अपने कारण भूत प्रकृ-

तिमें लीन होता है, अन्तमें प्रभु ही एकाकी शेष संज्ञा से स्थित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से आपका “नित्यत्व” “यह प्रभु ही सबको आनन्द प्राप्त कराता है,” इसश्रुति से “आनन्द जनकरता है” “इसतरह श्रीकृष्णचन्द्रने गोपालों के साथ आनन्द से आह्लाषित होकर वृंदावनके समीप श्रीगोवर्धन एवं श्री यमुनाजी के तट पर पशुओंको चराते हुए रमण किया,” “हे राजन् ! श्री वृंदावन, श्रीगिरिराज और यमुनाजी के तटको देखकर श्रीकृष्ण और श्रीदाऊजी को अतीव आनन्द हुआ।” हे गोपीनन ! पुष्पों की माला से विरचित कर्णभूषण से जिसके श्रीमुख की शोभा अपूर्व हो रही है ऐसा श्रीकृष्ण आनन्द में आकर जगत्को आनन्द मग्न बनाते हुए बलदाऊके साथ पर्वतके शिखरोंपर ठाठे रहकर चन्सी बनाते हैं तब नाद श्रवण करने वाले सारे संसारको तदाकार बनादेते हैं।” “हे सखि ! यदुपति श्रीकृष्ण ब्रजकी गायोंके दुरन्त तापको दूर करते हुए, सायंकाल होनेके कारण प्रसन्न वदनसे गजरान की चाल चलते हुए, दिवसके अन्तमें जगत्के ताप कोशांत करनेवाले चन्द्रके समान अपने पास पधारते हैं” इत्यादि वाक्योंसे आनन्दवत्त्व भी उपपन्न होता है, तथापि आनन्दत्वका और देहत्वका विरोध तो वैसाही रहा, अपने अपने अधिकरण—आनन्द या देह—इस दोनोंमेंसे किसी भी एकमें प्रमाणोंसे अगर आनन्दत्व या देहत्व की—सिद्धि हो सकती हो तो विरोध कहां रहा ? तथापि आनन्दको धर्मी रूप मानकर उसका धर्मत्व किस प्रकार रह सकेगा ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण कि वह जैसे सैन्धवके तुकड़ेके समान भीतर और बहार समग्र रसधन है वैसे ही अरे यह आत्मा समग्र प्रज्ञानधन है। जो सर्वज्ञ है,” इन श्रुतियोंमें भगवान्को ज्ञानरूप और ज्ञानके आचाररूप भी कहे हैं। वैसे ही आनन्द को ही धर्म और धर्मास्वरूप मानने में किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यह सब विस्तार पूर्वक हमारे श्रीप्रभुचरणोंने विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादन किया है, अतः यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ८ ॥

विवेक और धैर्य को रक्षा करते रहने पर भी भगवान् भक्तके वशीभूत होते हैं, तो फिर दीनता पूर्वक आश्रय की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शङ्का करके भगवान् सर्व मनोरथ पूरक हैं, अतः सर्वविध फलकेलिये कामना की पूर्तिरूप प्रभुके आश्रय की प्रार्थना है—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य चिद्रोषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अन्वयः—विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य, चिद्रोषतः पापासक्तस्य, दीनस्य मम गतिः कृष्ण एव अस्तु ।

पहिले प्रभुके स्वरूपका विचारकर आश्रयका उपदेश किया, अब जीवके स्वरूपका विचार कर आश्रयका उपदेश करते हैं। “भगवान् अपनी इच्छा से सब कार्य करते हैं, अतः प्रार्थना न करनी चाहिये” ऐसा निश्चय होना “विवेक” है, सेवामें प्रतिबन्ध करनेवाले

दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय न करने आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना "वैधै है" है और फलरूपा एवं साधनरूपा भक्ति 'आदि' शब्दसे पुण्य इन सबसे रहित, किंवाहुना इनके साधनोंसे भी रहित—अथवा यदि साधन होंगे तो भी अल्प प्रमाणमें, फल उत्पन्न कर सकें वैसे नहीं, और भैं दीन हूं अर्थात् किसी प्रकारके साधनोंके सिद्ध करने में भी असमर्थ हूं । साथ ही पाप में आसक्तहूं—भूलसे नहीं, पर नानकर पाप करने वाला होनेके कारण फल मिलता हो वह भी न मिले—ऐसी परिस्थिति में जीवका रक्षक कौन हो सकता है ? श्रीकृष्ण ही है । क्योंकि अन्य मार्गमें यदि थोड़ा भी उल्टा सीधा कर्म होजानेसे कर्मका फल नष्ट होजाता है और देवता भी नाराज होती है, तब साधकका अनिष्ट होता है, अथवा अल्पफल प्राप्त होता है, परन्तु यहां तो श्रीकृष्ण दयालु हैं, अतः वे मेरे समान अधमको भी सम्पूर्णफलदान करते हैं, अथवा विवेकादि सिखाकर योग्य बना कर फलदान करते हैं, अतः मुझे तो श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये ।

यहां "श्रीकृष्ण मेरा आश्रय हो" ऐसा कहनेवाले श्रीमदाचार्यचरण हैं और वे अपने को विवेकादिसे रहित आदि विशेषण लगाते हैं, यह अशुभ है, अतः उन विशेषणों की क्या संगति है, यह विचारना चाहिये । मुनिये, इस ग्रन्थको आचार्यचरणोंमें जीवोंकेलिये रचा है, अतः जैसे वेदमें यजमान की ओरसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि हाथ जोड़कर मैं शरण आया हूं इत्यादि उसी तरह आचार्य चरण भी यहां जीवोंकेलिये जीवोंकी ओरसे इस प्रकार कहते हैं । अतः उपर्युक्त विशेषणों की सङ्गति जीवके प्रति ही होनी चाहिये ॥ ९ ॥

सबप्रकारसे निःसाधन जीवको शरण जानेके पश्चात् फलसिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि भगवान् तो जीवको उसकी कृतिके अनुसार फलप्रदान करते हैं । साथ ही यह भी सम्भव है कि जो लोग एकमात्र भगवान् ही का आश्रय करते हैं, उनसे प्रमादवश अन्यदेवोंका अपमान भी हो सकता है, और वैसा होनेसे अपमानित देवता फल सिद्धिमें बाधा भी उपस्थित कर सकते हैं । क्योंकि श्रेयके मार्गमें अनेक विघ्नोंका होना प्राकृतिक नियम ही है । इस प्रकार शङ्का कर मोक्षके मार्गमें भगवान्के निजस्वरूपका लाभ होनेकेकारण निजस्वरूपका मोक्षरूपत्व आज्ञा करते हुए तथा जीवोंकी ओर से आश्रयकी प्रार्थना करते हुए उपर्युक्त शङ्काका समाधान करत हैं:—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वशैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्र एव अखिलार्थकृत्, अहं शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयामि ।

सर्वसामर्थ्यशब्दका अर्थ सम्पूर्ण सामर्थ्य, सबका सामर्थ्य, सबके ऊपर जिसका सामर्थ्य है, इत्यादि है । अर्थात् भगवान् अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करते हैं । यदि मर्यादा की रक्षाकरनी हो तो आप स्वयं भगवान् होनेके कारण आपमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि धर्म तो सिद्ध ही हैं, अतः उसका दान कर, जीवको फलप्रदान करते हैं । कमी कमी अक्षर ब्रह्ममें स्थित जीवको भी अपनेमें ले लेते हैं । क्योंकि सर्वत्र उनका ही सामर्थ्य है । “हे अर्जुन जो वस्तुएं विभूतिवाली होती है, शोभायुक्त होती है, बलिष्ठ होती है, वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा जान ।” “मैं समग्र जगत्का उपादान कारण हूं । मैं ही सबका प्रवर्तक हूं ।” इत्यादि वाक्यानुसार जिसमें समग्र सामर्थ्य विद्यमान है , ऐसे सुदर्शनादि आयुध भी आपके पास विद्यमान हैं । उनसे भी आप भक्तके अनिष्ट का निवारण करत हैं । “जिसने विष्णुकी उपासना की है ऐसे भक्तों की, कदापि निष्फल न होनेवाले सुदर्शनादि आयुधोंसे सकल आपत्तियोंमें से, रक्षा करते हैं ।” इस वाक्यसे भी ज्ञात होता है कि भक्तोंकी रक्षा भगवान् अपने आयुधोंसे करते हैं ।

सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् आश्रित की रक्षा न करें, अथवा मर्यादामार्गसे ही फलदान करें, ऐसी स्थितिमें आश्रयकी क्या आवश्यकता है ?

सब देशोंमें, वणोंमें, आश्रमोंमें किंवा कर्मादिमार्गमें निखिल अर्थकी पूर्ति करना ऐसा आपका स्वभाव है । “एक वार भी शरण आकर ‘मैं आपका हूं’ ऐसा कहनेवालेको अभयका दान करना यह मेरा व्रत है । फिर शरणमें आनेवाला चाहे जो हो ।” “जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, मित्र, प्राण, धन, इसलोक और परलोक की पर्वाह न करके मेरे शरणमें आये हैं, उनका त्याग किस प्रकार कर सकता हूं ?” इत्यादि वाक्योंसे एक वार भी यदि शरणमें आनेवाले की आप रक्षा करते हैं, तो फिर शरणमें आकर भक्ति करनेवाले भक्तकी आप रक्षा करें इसमें कहना ही क्या है ? मर्यादामार्गसे फलदान करनेमें भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही—अनन्य होकर—भजन करनेवालेको भगवान् मर्यादाकी अपेक्षाके विना ही फलदान करते हैं । जब कि ‘वेदमें कहा है इसलिये भजन करना चाहिये’ इसप्रकार वेद मर्यादाकी रक्षा करनेकेलिये भजन करनेवालेको प्रभु मर्यादाके अनुसार फलदान करते हैं । जो मुझे जिसप्रकार भजते हैं उनको मैं भी उसी प्रकार भजता हूं । भगवद्गीताके इस वाक्यमें आपने अपनी मर्यादाका उपदेश किया है । अतएव किसी प्रकारकी क्षति नहीं है । “लोकमें मैं भक्तोंके अधीन हूं ऐसा बतानेकेलिए बाल्लीलाओंके द्वारा ब्रजके आनन्दको बढ़ाया ” “उसके पश्चात् श्रीकृष्णने बलभद्रके सहित समान वयस्के ब्रजवासियोंके साथ ब्रजवनिताओंको आनन्द देनेवाली क्रीड़ाएं की” “श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न हुए परमानन्दसे जिसके हृदयका ताप मिट गया है ऐसे गोपीजन मनोरथोंके अन्तको प्राप्त कर सके । अर्थात् उनको किसी प्रकारकी कामना न रही ।” सबको मोक्षका दान देनेवाले मुकुन्द भगवान् मुक्तिप्रदान करते हैं, पर भक्ति नहीं ।” इत्यादि

वाक्योंसे मृत्यु और यम भी भगवान्का आश्रय रखनेवालेके पास नहीं जा सकते तो अन्यकी क्या बात ? अर्थात् अनन्य आश्रय रखनेवालेके ऊपर सब प्रकारके सामर्थ्यसे युक्त भगवान् विराजमान होनेसे उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता है । तथापि इतना तो विवेक अवश्य अनुसन्धेय है कि सर्वस्वनिवेदनपूर्वक शरण गमन करनेवालेका उद्धार आप अनायास ही करते हैं ॥ १० ॥

“जीवमात्रके दशप्राण और ग्यारहवां आत्मा रहता है,” इस श्रुतिवाक्यसे निम्न तरह दश प्राणोंसे सब सिद्ध होता है, उसी तरह यह कृष्णाश्रय स्तोत्र ही भगवदीयोंका सब कार्य सिद्ध कर देता है। यह ज्ञान करानेके लिये श्रीमहाप्रभुजीने दशश्लोकोंसे कृष्णाश्रय स्तोत्रकी रचनाकी। जैसे जात्मा क्षयरहित है वैसे ही इस स्तोत्रके पाठ करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है, यह बतानेकेलिए आत्मारूप ग्यारहवें श्लोकमें कृष्णाश्रयस्तोत्रके पाठका फल निरूपण करते हैं:—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—यः इदं कृष्णाश्रयं स्तोत्रं कृष्णसन्निधौ पठेत्, तस्य आश्रयः कृष्णः भवेत् इति श्रीवल्लभः अब्रवीत् ।

सब पदार्थोंमेंसे निष्ठाका त्याग करके जिससे कृष्णकी सेवा हो सके अथवा जिससे कृष्णका आश्रय सिद्ध हो, या जिससे कृष्ण आश्रय बने वह कृष्णाश्रय है । यही कृष्णाश्रय है । कारण कि कृष्णाश्रय शब्दका यथार्थ अर्थ इसीमें समाविष्ट है । अतः इस कृष्णाश्रयका पाठ श्रीकृष्णके समीप होनेसे ही कृष्णका आश्रय सिद्ध होता है अन्यथा नहीं । पाठमात्रसे कृष्णका आश्रय कैसे सिद्ध होगा ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये । कारण कि यह बात कहने वाला श्रीवल्लभ है । यहाँ आचार्यजी अपना नाम निर्देश करके बताते हैं, कि मैं भगवत्स्वरूपका ज्ञाता हूँ, अतः मेरा वाक्य सत्य है इसमें अप्रामाण्यशङ्का न करनी चाहिये । आचार्यजीको सर्वोद्धारकेलिये भूतलपर अवतार लेना पडा है, जिसको सर्वोद्धारकेलिये अवतार लेनेकी भगवान्की आज्ञा है, वही भगवान्के यथार्थ स्वरूपको पहचान सकता है । अतः उनके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये । इसीसे भगवत्कृपा होकर सब सिद्ध होगा ॥ ११ ॥

श्रीमद्विश्वनाथपादकमले संकथ्य भक्त्या मुदा

कृष्णैकाग्रधियोय तातचरणान् तादृक् पितृव्यानपि ।

श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिकरे कल्याण रायाभिधः

श्रीगोविन्दमुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्भियाम् ।

इति श्रीविठ्ठलताथ चरणैकतान श्रीकल्याणराय विरचित कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः सम्पूर्णः ।

થોડા વખતમાં છપાઈ બહાર પડનારાં પુસ્તકો.
 નિત્યલીલાસ્થ શ્રીમુદામાપુરીયવાદી ભપખ્યાનન ગોસ્વામીશ્રીજીવનેશાચાર્ય સંપૂર્ણીત-
વૈષ્ણવદ્વિજ્ઞાનિક. (મોટું, ગુજરાતી.)

અર્થાત ઉપનયન સંસ્કાર પામેલા બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય અને વૈશ્યોનું
 નિત્ય કર્તવ્ય કર્મ.

દરેકને સહેલું પડે તે ખાતર આ આદિકર્મ સંખ્યાદિ નિત્ય કર્મ કરવાની સંપૂર્ણ સમજણ
 ગુજરાતી ભાષામાં આપવાની સાથે મન્ત્રો પણ ગુજરાતી દરકર્મ છાપવામાં આવ્યા છે.
 વૈષ્ણવદ્વિજ્ઞેને-બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્યોને-વૈષ્ણવી પદ્ધતિનુસાર સંખ્યાદિનિત્યકર્મનુંપ્રાન સમજવ-
 નારું માત્ર આ એક જ આદિક છે. 'ગુજરાતી-ન્યુસ' પ્રેસની સફાઈદાર છપાઈ તો મુદ્દક મશ્હૂર
 છે એટલે તે ખાખત કર્યું વકતવ્ય હોય જ નહિ. પખવાડીયામાં છપાઈને બહાર પડશે.

વૈષ્ણવ-દ્વિજાહિક. (હિન્દી.)

હિન્દી ભાષામાં સજનોંકી રાસ મુવિધાકે લિષે ઝપર વતલાયે ગયે આદિકકા હી યદ ઠીક-જ્યોંકા
 ત્યોં હિન્દીમેં અનુવાદ હૈ. ઁક સમાદમેં છપકર તૈયાર હો જાયગા.

વૈષ્ણવ સંક્ષિપ્તસાહિક.

આ આદિકર્મ દનતધાવન વિધિ, તિલકવિધિ, મુદ્રાવિધિ, ભગવત્સેવા, જપવિધિ, નિત્ય
 પાઠ કરવાનો કર્મ, અન્યાશ્રય વગેરે અનેક ખાસ ખાખતો ઉપર સંક્ષેપમાં સારો પ્રકાશ પાડ-
 વામાં આવ્યો છે. 'વૈષ્ણવોએ ટુંકમાં ટુંક કેટલું નિત્યકર્મ કરવું આવસ્પક છે' તે સમજવા
 આ આદિક અવસ્થ ખરીદવું જોઈએ.

ઉપદેશમીમાંસા.

તમારે તમારા શુદ્ધ સનાતન પુષ્ટિમાર્ગ ઉપર 'મુખમસ્તીતિ વકવ્યમ્'ના ન્યાયે શક્ટા-
 કરનારા આજકાલના વિતરણવાદીઓને શાઓનાં પ્રમાણો સાથે મુખતોડ જવાખ આપવો છે ?
 તો 'મીમાંસા'ના સત્વર ગ્રાહક, બનો. તેમાં શું છે ? 'ગાયત્રી મન્ત્રનો ઉપદેશ લીધા પછી બીજો
 ઉપદેશ લેવાય કે નહિ ?' 'અન્ય દેવના મન્ત્રો છોડીને શ્રીકૃષ્ણના મન્ત્રોનો ઉપદેશ લેવામાં
 વિશેષતા શી ? 'મન્ત્રોપદેશ કોષ પણ ઉત્તમ બ્રાહ્મણ પાસેથી ન લેતાં શુદ્ધાદૈત વૈષ્ણવ વેલ્લનાટીય
 બ્રાહ્મણ શ્રીવલ્લભકુલના આચાર્યો પાસેથી જ લેવાનું કારણ શું ?' 'બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવાનું તાર્પણ
 શું ? 'દાષોની નિવૃત્તિ તો પ્રાયશ્ચિતાદિકથી પણ શક્ય છે તો પછી બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવામાં
 વિશેષતા શી ? 'બ્રહ્મસમ્બન્ધમન્ત્રોપદેશ લીધા પછી યતા દાષોની નિવૃત્તિ શી રીતે કરવી ?
 ઓને તો પતિ જ ગુરુ છે તો પછી મન્ત્રોપદેશ લઈ બીજો ગુરુ કરવાની આવસ્પકતા શી ?
 'પતિ તથા ઓ એક ગુરુ પાસેથી મન્ત્રોપદેશ લઈ શકે કે કેમ ?' નાનાં બાળકોને મન્ત્રોપદેશ
 આપવાથી શું ફળ ? 'ચોરાશી તથા બરસોબાવન વૈષ્ણવોની વાર્તામાં તમામને શ્રી કાકારજી-
 સાનુભાવ હતા તે આજના સમયમાં કેમ નથી ?' આવા અનેક જટિલ પ્રશ્નોના જવાબ સચોટ
 રીતે તથા યુક્તિપૂર્વક આ મન્થમાં આપવામાં આવ્યા છે. દરેક વૈષ્ણવે આ પુસ્તક અવસ્થ
 વાચ્યું જોઈએ. પંદર દિવસમાં બહાર પડશે.

મળવાનું કેકાણું—

બુકસેલર, ગિરિધરલાલ, જ. રાહ,

C/o શ્રી જીવનેશાચાર્યપુષ્ટિસિદ્ધાન્ત પુસ્તક ભંડાર, લાલબાવામંદિર, મુંબઈ નં. ૨.

નોટ-જપલા એકેસને તમારી મુકમાં નોંધી લો; કારણ કે વૈષ્ણવ સંપ્રકાયાનાં તમામ ભતનાં પુસ્તકો
 તથા ચિત્રોને અચૂક રીતે તથા ટાઇમસર સંખ્યાઈ કરનાર આ એક જ કેકાણું છે.

किञ्चित्प्रास्ताविकम् ।

कृष्णाष्टम्यां कृष्णाश्रयस्तोत्रं पङ्क्तिवरणसमेतं प्रकाशयितुं तत्पणोदनिःसीमानु-
ग्रहेण पारशामीति महत्सौभाग्यं मे । अतीयाय किल सार्धोद्बो मुद्रणपन्त्रमारोपि-
तस्यास्य, किन्तु गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजैः साकं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र-काशी-
क्षेत्र-चरणाद्यडेलप्रभृतिपूजनेकस्थलेषु यात्रानिमित्तं गतं मयेति, तेषां कुमारश्रीवल्लभलाल-
जीमहोदयानां वाराणसीप्रथमपारीक्षादित्यापि तदन्तर एव जातेति तत्राप्युद्युक्तं, भूयोपि
वाराणसीं गतिं प्रस्यितं तैः सह परीक्षादापनार्यम्, अन्यैश्चाप्येवंविधैर्हेतुभिरैकत्र स्थिति-
मल्लभमानेन प्रकटयितुमेतत्स्तोत्रप्रतिक्रान्ता वेला मया । ततश्च बहुभिवारिवारं पर्यन्वयोजिपि
हितैषिभिः किमेतन्न कुत एतन्न कथमेतदित्यादि । किं पुनः प्रतिपद्यतां प्रतिवचनं, यत्रैकस्या
व्यक्तेरधीनं कार्यवाहुरूपमय च स्थितेरनैपत्यं तत्र भवत्येवैवविधो विलम्बः । अस्तु ।

ग्रन्थोयं श्रीमदाचार्यवरणप्रणीतपोडशप्रकरणग्रन्थेषु नवर्मा सह्यामावहति ।
त्रिपयश्चास्य नात्रैव स्पष्टो यत् कृष्णाश्रयणमन्तरा स्वभावदुष्प्रीवानां निस्तारो नास्त्येव
कलौ । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'सुमुमुक्षुर्वै शर-
णमहं प्रपद्ये' इत्यादिवाक्यपरसहस्रैरिदमेव दृढीक्रियते । 'कलिदावानलेनाय साधनं
भस्मतां गत'मित्याद्युक्तिभिः प्रमाणवत् प्रमेयवलमन्तराऽकिञ्चित्करमेवेत्यपि निर्निवादम्,
अत एव 'कृष्णाश्रयैर्ज्ञेयते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति दैवोद्धारार्थं गृहीतावतारै-
र्निबन्ध आह्वयम् । यद्यपि भक्त्यादिमार्गा जनोद्धारार्थं निबन्धादौ सपरिकरं निरू-
पितास्तथापि प्रत्यहं कलेराधिवयेन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य आश्रयस्यैव च सर्वदि-
तावहत्सं पर्यालोच्य स्तोत्रमिदं व्यपरीरचन्नाचार्याः । आश्रयमवने तु महदनुग्रहस्यैव हेतुता
नान्यस्य । अत्रयैव दृशा प्रणीतोयं ग्रन्थ इति प्रबन्धस्यास्यावलोकनेनावज्ञातं
भविष्यति श्रीमदाचार्यपादात्मभोरुहमकरन्दलिहो दैवसर्गस्येत्यलं पङ्क्तिनेन ।

ग्रन्थस्यास्य परिष्करणे पुस्तकप्रदानेन मणसनीयमुपकारमाचरितवतां मे दीक्षा-
गुरुणां गोस्वामिश्रीमदनिरुद्धलालजीमहाराजानां काम्यवनस्थगोस्वामिश्रीवल्लभलाल-
जीमहाराजानां सुपुद्गीतं नामवेधं भव्यहं स्मरामि । तृतीयपीठाधीश्वरश्रीब्रजभूपणजी-
नामध्यापकाः पं. कण्ठपणिशर्माणः, पुरुषोत्तमलालजिमन्दिस्थदामोदरशास्त्रिणः,
सद्गतभगवदीयाः 'भूलचन्द्र तुलसीदास तैलीवाला' एतेषामपि सर्वेषां पुस्तकप्रदानतो
पदुपरि महत्पुण्यं कृतं । गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजा अपि सांप्रदायिक-

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

मेरे चार शब्द

पुष्टिमार्गीय हिन्दी भाषामापी वैष्णवों की सङ्ख्या गुर्जरभाषामापियों की अपेक्षा कम नहीं है, तथापि हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको अभाव पूर्ववत् विद्यमान ही है। इस महती त्रुटिको दूर करनेके अभिप्राय से “वैष्णव वैभव” मासिक पत्रका आविर्भाव हुआ। दुर्भाग्यसे वह आज तिरोहित दशाका अनुभव कर रहा है। इसके अनन्तर साम्प्रदायिक मौखिक ग्रन्थोंका अनुवाद करना प्रारम्भ किया, आज इन पङ्क्तियोंका लेखक हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका अनुवाद कर रहा है, इस समय १०० फार्मसे अधिक होसके इतना साहित्य मौजूद है। षोडशग्रन्थों में “विवेक धैर्याश्रय” का अनुवाद गो० श्रीब्रजरत्न लालजी महाराज की सहायता से छप चुका है। “बालबोध” का अनुवाद भी आपही छपायेंगे ऐसी आशा है। यह “कृष्णाश्रय स्तोत्र” का अनुवाद गो० श्रीरणछोडलालजी महाराजकी कृपासे छपा है। ब्रह्मवाद सङ्ग्रह चौखन्नासिरिज के अध्यक्ष सेठ जयकृष्णदासजीने छपवाया है। यदि हिन्दी भाषामापी वैष्णव जनता इन ग्रन्थोंका उचित आदर करेगी तो शुद्धद्वैत मार्तण्ड, प्रमेधरत्नार्णव, प्रस्थानरत्नाकर, निघन्तु और काशीस्य गो० श्रीगिरिधरजी महाराजकृत विवरणके अनुसार अणुभाष्यका अनुवाद आदि ग्रन्थ शीघ्रही छपसकेंगे।

यह कृष्णाश्रय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुजीके समयकी देशकालकी परिस्थितिका भलीप्रकार परिचय कराता है, जिस समय देश म्लेच्छाक्रान्त हो चुकाथा, उस समय पुष्टिमार्गका प्रचार हुआ है। ऐसे भयङ्कर समयमें धर्मका प्रचार करना कितना कठिनथा यह विचारशील पाठकों से छिपी हुई बात नहीं है। आज पुष्टिमार्गपर जो लोग आक्षेप करते हैं, उनको इस परम पुनीत सम्प्रदाय का साहित्य देखना चाहिये। भाविक वैष्णवोंसे प्रार्थना है कि आप यदि अपने बालकों को अन्य धर्मोंसे पराभूत देखना नहीं चाहते हैं, तो आप साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद कराके छपवाईये, और हिन्दी में छपने वाले ग्रन्थों को सहायता प्रदान कीजिये।

३ रा भोईवाडा, भुलेभर,
वम्बई, रथयात्रा १९८५

मवदीय
हरिशङ्कर शास्त्री
वेदान्त विहारद

शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

नित्यलीलास्थ गोस्वामीजीवनेशाचार्यजी महाराज (पोरबन्दर) सङ्ग्रहीत

वैष्णव द्विजाह्निक

अर्थात् उपनीत ग्राहण, क्षत्रिय और वैश्योंका नित्यकर्म

इस आह्निकमें सन्ध्यादि नित्यकर्म करनेका पूरा परिचय कराया गया है। साथ ही वर्णविभागके अनुसार पद्धति भी समजानेवाला यह एक मात्र ग्रन्थ वैष्णवोंके लिये उपयोगी है।

उपदेश मीमांसा

यदि आप शुद्धपुष्टि मार्गीय शरण मन्त्र और ब्रह्मसन्ध्याका रहस्य जानना चाहते हैं, विधर्मों वितण्डवादीयोंका मुखमर्दन करना चाहते हैं। गायत्री मन्त्रका उपदेश होनेके पश्चात् अन्य मन्त्रों का उपदेश हो सकता है या नहीं? अन्य देवोंकी उपासना छोड़कर श्रीकृष्ण ही की उपासना क्यों करनी चाहिये इत्यादि प्रश्नोंका सरल हिन्दी भाषामें उत्तर जानना चाहते हैं तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये।

श्रीमद्गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्

सम्प्रति विराजमान गोस्वामिबालकोमें सर्वप्रथमग्रन्थकार विद्वद्ब्रह्म गोस्वामी श्रीमदनिरुद्धाचार्यजी महाराजने इस ग्रन्थपर ब्रह्मामृत भाष्य और पीयूषलहरी टीकाकी रचना की है। इसका हिन्दीअनुवाद भी किया गया है। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण ही परात्पर पुरुषोत्तम हैं, शिवब्रह्मादि देवता भी उनकी उपासना करते हैं, कर्म ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ उच्चकोटिका है।

सब प्रकारकी पुस्तकें मिलनेका एकमात्र ठिकाना.

बुकसेलर गिरधरलाल, ज. शाह.

श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टिसिद्धान्त पुस्तक भण्डार,

श्रीलालबाबाका मन्दिर, बुलेश्वर, बम्बई पो. नं. २.

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकुर्वन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणानेके साम्प्रदायिकाः प्रबन्धा बहिरवतेरुः । पौडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नवमं कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रबन्धबलेन लब्धावतारं श्रीमदाचार्यवाक्सुधापिपासूनां मनोरथपूरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृक्सत्प्रवृत्तौ योग्यविधित्सया परमकरुणया दशवर्षाणि मे सर्वविधसाहार्यं दत्तवद्भ्यो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-
देशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्त्तव्यमावेदयामि ।

अस्मिन् सशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोजकप्रमादतो वा जातानि स्वलितानि संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्वोधयित्वानुगृह्णन्तु दयालवो विद्वांसो मामिति प्रार्थयति—

कृष्णाष्टमी
संवत् १९८३

}

विद्वज्जनरूपाभिलाषि—
हरिकृष्णः शास्त्री,
'शुद्धाद्वैतविशारदः' ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविचरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्वोरंस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।

निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्वित्यति । सर्वं कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्कलार्थिभिरिति मार्गा इष्टमाद्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सन्तु । अनेन जीवानां सर्वथैवा-
गतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेऽप्यशक्येयं मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव
गतिः शरणं, प्राप्त्यर्थं औश्रयणं च । अत्रास्त्वितिपदं व्याख्यानेऽव्याहार्यम् ।
एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यने-
नाहुः कलाविति । बहिर्धर्मरूपाभासोन्तर्दोषप्रस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो
यस्मिन्कलौ । खलानां दाभिकहेतुकपापण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, कचिदखर-
धर्मिणीत्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः-
खरखासौ धर्मश्चेतिकर्मधारये कृते पथान्मत्तत्रर्थाप 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'-
प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्पतिरिक्तकालेष्वपि । किञ्च,
पापण्डो वेदवाहो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतापां
सत्यां, सर्वपकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः ।
अत एव 'बृहन्नारदीये'प्लुक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव
नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्वयेति । अत्र सर्वत्रापि कचिन्निमित्तसप्तमी, कचि 'दहाणां
कर्तृत्व' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोदपचौ घाहाभ्यन्तरभेदेन घाघगुह्यपयन्तो निष्पत्त्यूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

१ आश्रयो वेति पाठः ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्माद्यर्थिभर्त्रासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छाज्ञेया जाता कर्मणा च । नन्वेवं विधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहुः— पापैकेति । कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । चकारादनेवं विधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिरुक्ता । तर्ह्यभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतो-नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडानोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यंग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ २ ॥

- ननु गङ्गादिपूर्वोक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तु-सामर्थ्यतिरोधानान्न तथात्वमिति समाहितपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यैस्ति, तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'मितिवचनाद्भगवद्भूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा- तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवविधेषु 'गङ्गादितीर्थवर्येषु' तीर्थसुर्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहङ्कारेण विशेषतो मूढेषु आत्मोद्धारोपायज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वितिपदं पूर्व-स्पादध्याहार्यम् । किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दृष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्त-यन्नयन्नुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निपिदाचरणपरेषु । किञ्चिदिष्टेषु तेषु लाभपूजति । लाभो द्रव्यादेः पूजा

श्लोत्रतिपूर्वकं लोकरुतसन्माननं, अर्थः स्वपयोजनं, एतन्नितयसिद्धचर्चमेव यत्न उद्यमो
येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । द्वेद्वजनगुर्वाशुपसच्यभाषेन विद्योपशमात्वाठार्थविनियोगादी-
नामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु तिराहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु
अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैवविद्येत्तिरोहितानामप्यकिञ्चित्करत्न-
मेव । यद्वा, स्वस्वाश्रमस्या योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु
तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्वचं
येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कृताकिंरुचौद्धायागमोक्ता ये वादा वज्रालरूपाः 'यावज्जीवे-
त्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो
नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पापण्डेषु वेदादिविरुद्धाद्यैष्वेव एकः
असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति,
पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणांमिति । शूद्रीमर्तुर्वैश्वानरजामिलनाम्नो दोषाणां पदा-
पातकानां नामपात्रेण नाशकोऽस्माकमनुभवे स्थितः, शान्दानुभवे अन्तःसाक्षिमत्स्यक्षे वा
स्थितो विपक्षीकृत इति यावत् । 'आदि'पदाद्भजेन्द्रप्रभृतयः, यमलोकस्थिता' नारकि-
गश्च । इदं वृत्तिहपुराणादौ मसिद्धम् । ज्ञापितं दैवजीवेष्वखिलं सप्तमं निजमाहात्म्यं
येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निवन्ध-
नोत्पत्तिस्थितिविलया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव ।
अत एवोक्तं दशमे 'मृत्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति
चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमिता-
नन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयात्वत्वाद्धरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वा-
दखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविध-
दुःखसहनं धैर्यपदार्यः । भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्यु-
च्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवाव-
गन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्भरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेत-
द्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्ज-
नेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या दीनस्य । भगवताप्ये तादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ
व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वमभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमर्तुमन्ययाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम
प्रभुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानन्यान्करोतीत्यखिलार्थकृत्
यत्स्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य
सम्पगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीबल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योर्थो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्त-समीपेषु पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतान्मन्त्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इतिश्रीबल्लभोऽब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीबल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्चर्यम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भग-वांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमप्यपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमावेध्निन्तया मुधा ।

आचार्यवाक्स्तुधासिक्ता माहृद्दं संशयं जनाः ॥ २ ॥

आचार्यचरणाम्भोजे हृदं विश्वस्य विस्तरात् ।

रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतो

कृष्णाश्रयस्तोत्रविचरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यत्प्रीलालवसस्पर्शान्नि रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।

ते राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भक्त्याहं तान्निजाचार्यान्भिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना देशादिपैद्साधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरूपार्यरूप इति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्राणानामिशास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्य तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वति सति । 'खलधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः । 'कृपिर्भूवाचके'तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोस्त्विति शेषः । खलधर्ममाहुः—लोके जने पापण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिंस्तादृशे सति । अत एव सर्वे मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टप्रायेषु सन्तु, पापण्डप्रवेशादात्मसुखवाचरुस्वर्गपदस्य लोकरुभ्रमजननाच्चित्तशुद्धयजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वादुपासनामार्गस्य च मुख्यफलसाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम् । चकारान्महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सन्तु, एवका-

रस्य विशेषान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा गतिर्मास्त्वित्यर्थः । अन्या-
र्थकत्वादस्य सिद्धत्वेऽपि मार्यनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गायाणामपि कलिकालस्य
साधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिप्रत्याज्ञौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं
मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, वैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्त-
दुषणानामभावात् । तथाहि—‘फलेदोषनिधे’रिति ‘कलौ तद्धरिर्कीर्तनादि’ति ‘कलि सभा-
जयन्ती’त्यादिवाक्यैर्वाधकत्वाभावाद्दल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात् । ‘शृण्वन्
शृण्वन्’ ‘महार्तायातयामानां न वन्वाय गृहा मताः’ ‘तावद्ग्राहदयः स्तेना’ इत्यादिवाक्यै-
र्भगवत्परस्वै गृहादेर्वन्धहेतुत्वाभावात् । ‘एवं नृणां क्रियायोगा’ इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रि-
याया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । ‘भक्तं कुर्वता’मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकर-
णेऽपि प्रत्यवायाभावात्, ‘धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः’ ‘ते मे न दण्डमर्हन्ती’त्यादिवाक्यैः
कदाचित्पातकसंभयेऽपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । ‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’
‘अपि चेत्सुदुराचारः’ ‘यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, ‘यानास्पाये’त्यादिवाक्यैरानाचाराद्य-
भावेऽपि फलसिद्धेः । ‘धर्मः सत्यदयोपेतः’ ‘धर्मः स्वसुष्ठितः’ ‘नैष्कर्म्यमप्यच्युत-
भाववर्जितं’ ‘यमादिभिर्योग्यैः’ ‘श्रेयःश्रुति’मित्यादिवाक्यैर्विधा जलौकसां नित्यं
जीवनं सलिलं मतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिप्पत्’ इतिगृह्यारादीप-
वाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामैव साधकत्वात् ।
‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा’ ‘चतुर्विधाः’ ‘अकामः’ ‘ज्ञानं मयासमुदपास्य’ ‘किमलभ्यं’
‘रूपमारोग्यमर्था’नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । ‘परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये’
‘आत्मारामाश्च’ ‘नैकात्मता’ ‘महतां मधुद्रि’दित्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात् । अधुना
कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफ-
लत्वादेव्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं ‘तत्त्वार्थदीपे’—‘अधुना ह्यधि-
कारास्तु सर्वे एव गताः कलौ । कृष्णध्वत्सैव्यतेः भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही’ति भक्ति-
साध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुपङ्क्तित्वाच्च कर्मादितुल्यत्वान्यथेऽपि ।
ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिवेषेऽपि सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न ‘स्मृतव्यः’ ‘स्मृतेः’
‘कृष्ण कृष्णे’ति ‘न वै जनो जातु’ ‘कृष्णेति’ ‘आलोक्ष्ये’त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि
फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावादलभ्युक्तिभिः ॥ १ ॥

१ एवकारो हि विप्रकारकः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽप्यवच्छेदकभेदि,
विशेषान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव वतुर्धरः, विशेषान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पाण्डुरेव, क्रियान्वित-
रतृतीयो यथा नीलं सरोजं मयत्वेवेति । २. कश्चिवास्ति ।

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुमक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशमनोहृत्तेशं तं चेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥

नत्वा श्रीब्रह्मभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयमकाशस्य व्याख्यानं मुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्यग्ने सम्यक्त्वं चात्रान्यापरि-
भूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति
भाष्यमिति वाच्यम्, 'अपष्टयवृत्तीयास्थस्ये'ति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायक-
मिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः
काचित्, इतरथाऽव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'दी-
कायाम् 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दा-
द्वयेव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरान-
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्यो-
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमार्थवर्णीयकृष्णोपनिषदि "पूर्णप्रेमा-
स्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा", तस्मान्न भिन्नेति । यत्कृपादृष्टित इति । स्वीय-
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिचन्द इति । भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यानभिचन्द इति
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्धयर्थं निजाचार्यनमस्कार-
रूपं मङ्गलं करोमीत्येतद्वाक्यार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा
प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तत्त्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवत' इति फलितार्थक्यनम्, अन्यथा
प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमिति न्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य
सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयंस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः
प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शब्दसाधनता-
न्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये बलत्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिपति असिना
जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेश्वादिरूपसाधनस्य 'तदनेष्टव्यं तद्विज्ञासितव्यं मन्त-
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे त्वयार्थभूतविधेश्च 'सन्प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमना-
दाबन्धस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु
'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं नतु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थ-
कत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयवासिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

टिप्पणम् ।

सर्गः । पुरुषाद्भ्रमादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम् । स्थितानामभिष्टुद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार कृतिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुभक्तिरीवानुकया । भक्तानां प्रवञ्चाभावो निरोधः । निष्प्रवञ्चानां स्वस्व-
लाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । साच्चिकसाच्चिकाः, साच्चिकराजसाः, साच्चिकतामसाः । राजसराजसा, राजस-
साच्चिका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससाच्चिकाः । एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । 'किपासनं ते गच्छासनाये'त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्थैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते प्राप्यते इत्यर्थः । ननु 'भावं' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्पम्, 'कृत्यत्युद्यो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थेष्वभिचारार्थं पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः कर्मणि षुल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः । पापपण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पापण्डत्वम् । आत्मसुख-
धाचकेति । 'यत्न दुःखेन संभिन्नं न च प्रसन्नमन्तरम् । अभिलापोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यापसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति । लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायो-
पहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अताच्चिकोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तु-
नस्तदसप्तसत्ताको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः । कारणपदे-
विनैत्र तद्दृष्टिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्येति ।
निर्वाजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्दयानार्थमङ्गत्वे-
नोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेऽप्यतत्रोपाङ्गभूतो द्वितीयः । उभावपि प्रामाणिकौ । यस्तु
स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादि-
साधकास्तेऽप्रामाणिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे स्वष्टम् । कलिकालानुगुणेष्विति । द्वाप-
रादौ युगे भूत्वा कलयामानुपादिषु । स्वार्थैः कविभैसैस्त्वं च जनान्मद्विभ्रुसान् कुरु'
'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेपोचरोत्तरे'त्यादिभ्रमपुराणाद्युक्तवचनैर्भहादेवादीनां कलि-
कालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके
शिर-आरोह शोभयन्ती मुखं मम । मयाप्रे वर्चो विश्वेष्वस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया
इति भावः । 'कलेदो'रनिधे'रित्यारभ्या'भशोपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः--'कले-
दो'पनिधे राजवस्ति होको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्धः परं ब्रजेत्' 'कृते
यद्दयामतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मधैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्दरिकीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम् ।

सभानयन्तपार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वः स्वार्थोपि लभ्यते'
 'शृण्वन् गृणन् संस्परयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्व-
 चरणारविन्दयोराविष्टचिचो न भवाय कल्पते' 'गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
 मद्वातायातयामानां न वन्द्याय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
 तावन्मोहोद्धिनिगदो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
 त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।
 तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य
 हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य
 सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीपां
 स्यात्पातकं तदपि हन्युर्गायवाद्' 'ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो
 भगवत्पपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नाैपां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' 'सर्व-
 धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच'
 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्पन्नव्यवहितो हि सः'
 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरि-
 वोदितः' 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्न
 पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्
 प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम
 एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः
 पुनः शब्दभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो
 मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्दत्तथात्माद्धा न शाम्यति' 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
 क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ केशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुपाव-
 घातिनाम्' 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरि-
 तरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसा' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः
 सुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अकामः सर्वकामो वा
 मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने मयासमुदपास्य
 नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्म-
 नोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिके-
 तने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवा-
 नुपङ्क्तिमान् । ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लो-
 रु-

टिप्पणम् ।

लीलया । गृहीतचेता राज्ञेयं आख्यानं यदधीतवान् 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्गन्था
अप्सुःक्रमे । कुर्वन्त्यैतुर्का भक्तिमित्यंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मता मे स्पृहयन्ति
केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः भसज्य सभाजयन्ते मम पौरु-
पाणि' 'मदतां मधुद्विदसेवानुरक्तमनसापमत्रोपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति
भगवत्स्वरूपशास्त्रेऽतिरथः । तदुक्तमस्पृह्युभिर्भक्तिर्हसे' 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्त-
फलकत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तद्भावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं
विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचिद् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः
सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण
कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः । जलं भिन्वा यथा पत्रं नरकादुद्धराम्यहम्'
'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः'
'न वै जनो जातु कथंचनाब्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्पवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्गुपगूहनं
पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसमहो यतः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं
सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च
विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्व-
निर्णये 'स ज्ञानक्रियोभयमुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा
भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्याः । तथाच साम्प्रित्तस्यापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि
कायवाग्निविभोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्व-
मिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाग्निविभोगाभावेपि स्नेहा-
भावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । कर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गाद्वैदिककर्मणः फला-
वश्यंभावनियमादिति तच्चम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः क्विपितीतरव्यवच्छेदपूर्वकमाश्रयधा-
र्षनमिस्वाद्याद्य देशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्राथेयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु हीनैराक्रान्तेषु सत्सु । ननु म्लेच्छा अपि न्याय-
वर्तिनश्चेत्तदा को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु,
पापा ये मुल्यास्तन्निलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अज्ञब्रह्मा-
दिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः । ननु लोका वणिजादयः समीचीनाश्चेत्तपैः

१. अज्ञब्रह्मकलिष्वेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां किना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः

प्रकाशः ।

अपरिज्ञाननष्टेऽपि । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु । वैदिकानां गुरुकुलवासप्रस-
चर्यशुद्धासन्निध्यनध्यापराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनात्रतयोगिनामसाधकत्वात् ।
आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य
स्मृत्येत्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारार्त्तकर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य
कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेऽपि । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु
प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्साज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्गो-
धितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं नास्तीति केपाश्विद्वादः,
'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्रः' इत्यादिवाक्यैर्व्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोत्त-
रोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि
चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवताप्रोतिव्यापारः फलं वेति केपाश्विद्वादः, शास्त्रेण
पोढशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःस्वात्म-
न्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केपाश्विद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये
पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केपाश्विन्मतम्, एवंविधैर्नानावादवैशिष्ट्येण
नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्विनाशः । वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं'
'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष उ एव तं साधु कर्म कारयति'
'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत उपपत्तेः'
'त एवं तृप्तास्तर्पणन्त्येनपि'ति 'देवा वै सन्नभासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यसि'
'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं' मित्यादिश्रुतिसृष्टिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन
कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्सृष्टिसत्रकरणा-
द्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्साधुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव
फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्वैकाद-
टिप्पणम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु, 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत्
अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती मतिगृह्य भुक्त्वा
व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या' स्यात्, ततश्च नित्य-

टिप्पणम् ।

वेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-
 शक्योऽभ्युपगन्तुम्, न चाशुञ्जाना मसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे
 देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्तमिति
 पार्थसारथिमिश्राः तत्रोद्विवादमात्रमेव । तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्तत्र
 नित्यवेदविषयत्वं न स्यादिति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषय-
 त्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'तत्र एवैतन्मिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'त्यादि-
 श्रुत्युक्तत्वाच्च । मुख्यार्थावाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं
 न तु विधेयकवाच्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छावरभाष्ये सिद्धान्तिवत् तस्त्वमत-
 ग्रहमात्रमेव । प्रकृतमनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः
 प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुमिति, तदप्यविचारमणोयम् । विश्वादीनामपि प्रत्यक्ष-
 भोगाभावात्त्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'तिश्रुतौ 'परं पुष्यं फलं तोयं यो मे
 भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदिता-
 न्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तदेयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृद्योषं तु यो
 दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति स्कान्दे 'यः
 श्राद्धकाले हरिशुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-
 नाकल्पकोटिं पितरस्तु वृषा' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यच्च
 निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधात्त्रिमूलमिति, तत्र, श्रीपरस्वामिर्नृसिंहपरिचर्या-
 दिमूलं षडतः स्वस्यैव षडद्वयापातात् । एतेन 'न चाशुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवती-
 त्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुप-
 पत्तिः । एतेन तदुक्तकर्मभार्यस्य प्रलपितकर्मत्वं सिद्धमिति निर्गर्वः । यच्च युक्तावस्था-
 मात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमुपैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चानन-
 भट्टाचार्या आहुस्तत्त्वामादिक्रमेव । तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽप्यया बन्धमोक्षा-
 नुपपत्तेरिति, तत्रुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि
 'योपीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं षडन्ति तदपि तथा । तथाहि अमेद-
 वोधिका किल 'महा वेद महीव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीयत्वमतिपादन-
 द्वारा स्तुतिस्वस्याः शक्योर्थोपि त्वौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति
 मुख्यार्थावाधात् । अत ए'वांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेश-
 कालाभेदेन निमित्तोपचारादि'त्युक्त्या 'न च यत्परास्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्प-
 तिमिश्रैः । न च 'सर्वं एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवन-

प्रकाराः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वाच्च कार्यमुत प्राकृतं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सदर्भस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावाच्चेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीपां किमकारि शोभनं प्रसन्न एपां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्यन्म लब्धं नृपु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वकालैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकाराः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंपु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरिचयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्युपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्यङ्मृत्स्नाशतेनाप्यथ भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्धयतीत्येव वयं वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डकास्तोये मग्ना दिवानिशं । वसन्तोपि च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचि-टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मकाव्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभिर्'त्रिबन्धे' 'द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमिति । यादवकोशेपि—'तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन' इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समाख्याते'त्यस्य व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमिति । 'प्रायश्चित्तानि चूर्णानी'तिवचनत्रयाणि—

प्रकाशः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमथदया च यत् । तद्धर-
न्त्यसुरास्तस्य समुद्रस्वाकृतारमन' इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, 'अश्रद्धानः पापात्वा
नास्ति कोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पश्यते न तीर्थफलभागिन' इति वायुपुराणवचनाच्च,
'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्वाहिर्मुख्यनास्तिवयादिदोषानिवार-
कत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधि-
दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्बस्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-
न्त्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकृत्यात्, अत्र एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्था-
दावपी'ति । अत्र एव सतां 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदै-
विकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राक्वत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवा-
पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचिरस्यचिन्नयेत् । कृष्णमसादयुक्तस्य नान्पस्येति
विनिश्चयः' 'भवद्विना भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः-
स्थेन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकाशः ।

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किपाश्रयेऽन्यथवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणाम-
साधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं
पृच्छन्त्यपि नेति मायावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टे-
त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म
लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्घानदोषाभ्यां दुष्टत्वात् तेषां
स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः,
भगवान् भगवद्दीपो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥४॥
पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

मिति तदथात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशयोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य 'भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपीत्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्कारिककमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमुख्युरुपास्यममरोत्तमैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यज्ञो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मिं तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्वन्दनानन्दितात्मना ।

शिष्येण चालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

श्यादित्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि त्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय । ननु तेषु स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःफलत्वात्फलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः—पापण्डैकप्रथमनेष्टिविति । पापण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रसन्नो येषु 'त्वं च रुद्रे'तिसाङ्गेन 'त्वामाराध्ये'ति श्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितत्रौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुपसक्त्या । शेषं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

टिप्पणम् ।

'त्वं चेत्यारभ्य' भक्त्या त्वनन्ययेत्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च रुद्र महावाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वामाराध्य यथा शंभो ग्रही-

टिप्पणम् ।

प्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलयामानुयादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च
जनान्मद्विमुक्तान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरपोत्तरोचरा । 'यद्यदाचरति
श्रेष्ठस्तत्तदेतेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मो सर्वं प्रतिष्ठितमितिश्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय
धर्मैः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाश्रु दोषव-
तैवान्यथा क्व योगिध्येयो भगवान् क्व दृष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष दृष्टुते' 'रहुगणैतत्'
'भक्त्या त्वनन्यये' त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति
तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य
भक्तानां भगवान्नेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः ।
ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टमापकत्वं च धर्मकार्ययुक्त-
मतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चि-
दादीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्गारात्
अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तथेन । शेषं प्राग्वत् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रहुगणैतत्तपसा न याति न चैन्यथा निर्वयणाद्गृहाद्वा । न यन्दनाज्ञैव जलाग्नि-
सूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं
च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनामिति-
शेषः । पञ्चान्तरे त्वजामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु पर-
म्परासम्बन्धेन स्वनामैवोद्गारात् । दोषोपस्थितावित्पारभ्य सूचितमित्यन्ते—ननु
'श्रुतिस्मृती ममैवाग्ने यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आग्नेच्छेद्री मम द्रोही धृष्टकोपि न मे
मियः' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चिदादेः
माहत्त्वादित्यं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्राय-
श्चिदादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामिति । अल्पदोषोपस्थितौ
तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चिदादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनाल्पवद्विमुक्तताया-
मपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं थं ऋतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वापो-
रादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायु-
ज्यसिद्धेर्'ये त्वक्षर'मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय
इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारमभवत्वात् । बृहदक्षरं
गणितानन्दकं 'सैपानन्दस्य मीमांसा भवती' त्पारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स
एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता
टिप्पणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं
च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव
सर्वभूतहिते रताः' 'केशोधिकतरस्तेपामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहवद्भिरवाप्पते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैपानन्दस्येति । 'सैपानन्दस्य मीमांसा
भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रिष्टो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा
वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-
नन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणा-
मानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते
ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आज्ञानजानां देवानामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाज्ञानजानां देवानामानन्दाः स एकः
कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यन्तेन प्रपाठकेन

प्रकाशः ।

पूर्णांनन्दश्च । पूर्णशासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वां, तस्मात्कृष्ण एव-
गतिर्ममास्त्वित्यर्थः । देवादिसापुत्र्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः समुणायेन 'आव्रज-
श्रवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंप्रवेनात्पानन्दत्वेन स्वर्ग-
दमुक्तित्वात् । ज्ञानपार्श्वेऽस्त्युक्तेर्निर्गुणत्वैश्वर्यस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्यात्य-
ल्पभोजनभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अज्ञातार्थद्वैतार्थ 'क'प्रत्ययेनाग्यक्तत्वं पुरुषो-
त्तमापेक्षयात्पत्वं च सूचितम् । पूर्णांनन्दत्वेन निर्गुणशुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भाव-
नीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा शुक्तिरस्मादि समुणा सान्यसे-
ववे'ति । ननु 'ताविमौ वै भगवतो हरेःशाधिहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुल्-
द्वहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादात्तपि पाश्चर्भौ-
तिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्यगुणत्वेन श्रेयाश्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्द-
रूपत्वपानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमाभिरयादीना-
मर्यान्वयगयात् । तथाहि-भगवान् भक्ताजामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकृतः भुवो भार-
व्यपायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेःशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुल्द्वहयोः प्रवि-
ष्ट्वाचदुकुल्द्वहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुल्द्वहत्वाभावात् । तत्तत्कार्यकर-
णार्थं व्यूहेषु भगवन्स्तत्तदंशपेक्षणादनयोरपि सकूर्पणांशत्वेन भूमारहरणार्थपेक्षणात् ।
अंशयोरेवावतारस्य पूर्णत्वायावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः
परः' 'चिदितोसि भवान् सासात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः
टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । ययादापुष्टिस्थस्येति शेषः ।
येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवचनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारण-
कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वाैव फलं प्रयच्छति तत्र
भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यमट्ट्युपहितप्रयोक्तृत्वमस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन
व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्थस्येत्यर्थः । हेतोर्निव्यापार-
साधारणत्वात् । ननुययोरपि मुख्यफलप्राप्तिवचनेन को वा विशेषः पुष्टिस्थस्येति चेत्
साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहुना । 'ताविमावित्यारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्-
न्नानि वचनानि- 'ताविमौ वै भगवतो हरेःशाधिहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णं
यदुकुल्द्वहौ' 'वभौ भूः एकसस्याख्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तस्मिन्
संपवन्तु सुरक्षियः' 'चिदितोसि भवान् सासात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवान्
स्वरूपः सर्वैर्युद्धिदमि'ति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाय च भुवः' इत्

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवत'तत्त्वार्थदीपे' 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वात्तिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशभंशं विभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णमाकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ' इति । 'वभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्वभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां वभावित्यर्थ इति । अन्ययोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविपयत्वादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षवाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोद्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिवलेन नित्यज्ञानवत्तयाविधेदेहस्वीकारात् । नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकृत्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्देव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोभ्याटिप्पणम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिवलेनेति । अन्यव्यतिरेकव्याप्तिवलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्रयोजकत्वम्, देहवत् एव कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । वस्तुतस्तु 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वि'त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च ब्रीहियववत् विकल्पसंभवः । 'मेयापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं द्रा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्धेतुनिरूपितव्याप्तावप्यतिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणात्तीत्ये' त्यस्य व्याख्याने 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्ताने' स्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्येत्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाङ्कुर्वन्तु । आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'सुदितवक्त्र' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म-

प्रकाशः ।

सात् 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलातु भवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्ररूपाद्मुखोदरादिः'
 'बहूनि सन्ति नामानि' 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्नस्य' त्यादिश्रुति-
 न्यायपुराणत्रायसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देवमाणेन्द्रियान्तःकरणा-
 स्वरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्वाचयववोधि । 'नित्यं
 विज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञा' इत्यादिना नित्यत्वं,
 'एष होवानन्दयात्री'तिश्रुतेरानन्दजनकत्वम् । 'कृष्णः शीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदु-
 त्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवक्त्र उपयाती'त्यादिनानन्दवचं चेति नानुपपन्नं
 किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकशो-
 भयोः सिद्धयसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्व-
 मिति चेत् 'स यथा सैन्धववनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधार-
 त्ववदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्प्रसुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्व-
 न्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

टिप्पणम् ।

तन्त्रो निश्चेतनात्पकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्ररूपाद्मुखोदरादिः सर्वत्र च स्वग-
 तमेद्विवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि
 वान्पहं वेद नो जनाः' 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीषमा-
 नमाहात्म्यं हरिं सामन्यतरात्मजम्' 'न चान्तर्न बहिर्नस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं
 बहिश्चान्तर्नगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपराधविसाने महाभूतेष्व्यादिभूतं गतेषु ।
 व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञा' 'एषं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः
 शीतमनाः पश्यत् । रेमे संचारयन्त्रेः सरिद्रोषस्तु सातुगः' 'वृन्दावनं गौर्यने यमुनाधु-
 लिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्दृष्टुं' 'सहजलः स्रगवतंसविहासः सातुधु
 क्षितिभृतो ब्रजदेव्यः । हर्षयन् यर्हि वैशुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विषम्' 'यदुपतिर्हिरद
 राजविहारो याद्विनीयतिरिवैष दिगन्ते । मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचय
 ब्रजगवां दिनतापमिति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि यत्र भवतीति किञ्चि-
 द्दैन्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वकार्यं काम्यत्वात्काम्य-
 वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयप्रसूता जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्पुष्पम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सन्नेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दस्तिरस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्राणादिकृपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चित्पुण्येपि वैकल्यादेवताकोपादनिष्ठजननादल्पदत्त्वाच्चेदृशस्य विषेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयित्वाचकत्वाद्ब्राह्मचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, नै, अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भवता वेदेषु 'प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इत्यादौर्पत्वादिति सर्वमनवयम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवांस्तु तत्तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तैत्कृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्तत्वान्मोक्षरूपत्वं विघ्नापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

दिप्पणम् ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादां रसेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यमर्यादीनां सिद्धत्वात्तदव्यापि तत्फलं दद्यात् । फदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्ठनिवारणात्, 'अव्याहृतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्यं सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रसेत्, मर्यादयैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः--सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रयेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यत्वाद् क्विप् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्रास्ते'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः । मर्यादायपि फलदानेन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्वान्न क्षतिः । अत एव 'ब्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्सुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतपो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते मायव' 'पर्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्यै'त्यादिवाक्यैः कालयमादयोपि चैद्भगवदीयान्निवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विप्रकर्तार इति न किञ्चिद्वृषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्पगनायासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रयं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनैश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्पर्शेश्वरतोपहेतुत्वात् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहृतानो'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सर्वं श्रीमदङ्गितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशंसंभवम्' 'अहं सर्वस्य भवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहृतानि कृष्णस्य चक्रादीन्पाशुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुर्यासित' इति । ताच्छील्यत्वात् किञ्चित् । 'आक्रेस्तच्छीलतद्धर्मत्सामुकारिण्ये'तिस्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यात् 'तत्तथा साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः--'सकृदेव प्रपन्नाय तत्रासीतिः' याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्धतं मम' 'ये दारागारपुत्रास्तमाणां वित्तिपरम् । हिंसा मां शरणं याताः कथं तांस्थकृत्सुहृ' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तु भजाम्यहम् । मम वर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वत्रः' 'दर्शयंस्तद्दिदां लोके आत्सृत्यवयवताम् । ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालवेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृ

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्ब्रजवालकैः । सहरामो ब्रजस्त्रीणां चिक्रीडे 'जनयन्मुदम्' 'तद्दर्शनाद्वादविधूत-
हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीकृत्पत्रासनमात्म-
बन्धवे' 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां देवप्रियः कुलपतिः क्वच किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'
'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गाच्चयि वद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता
विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जं प्राप्य यद्दृच्छयाद्य स्वस्यः
शेते मृत्युरस्मादपैति' 'वसति मनसि यस्य सोव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः ।
गतिरथ मम वा त्वास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यवलयस्य सोन्यलोकः' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

'दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश' इति श्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञाप-
यितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेणै-
तत्स्तोत्रपाठफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति
कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नान्यत् । कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं
वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इद-
मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पायासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेत-
त्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः—श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्व-
रूपाभिज्ञत्वान्द्रगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्रापामाप्यशङ्का,
नहि भगवान् सत्यवाक् स्वैवाचमन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गान्नारदकृतं 'तत्तथा साधयि-
यिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं
त्र गत्वा नलकृवरमणीश्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य
कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

'देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मनेति' ॥ ११ ॥

प्रकाशः ।

श्रीमद्विद्वलनाथपादकमले संवन्य भक्त्या मुदा
 कृष्णैकाग्रधियोय तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।
 श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिषः
 श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशप्रकरोद्भूयान्मुदै सद्दियाम् ॥ १ ॥
 इति श्रीविद्वलनाथचरणकमलैकमानश्रीकल्याणरायविरचितः
 कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिप्पणम् ।

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्घं विशंकटवरं वरसेवकानाम् ।
 यत्पद्मराममणिर्व्यविराजमानं तद्देहकृटेणमुकुटं प्रकटं स्यामः ॥ १ ॥
 निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिसुखाग्मसरोरुहमास्करम् ।
 अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमतोदररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥

गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम् ।

कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपापमानान्तःकरणातिचरो-
 पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
 कृष्णाश्रयप्रकाशाटिप्पणं समाप्तिमगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-

स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्

तमहमतिदयालुं बल्लभाख्यं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरञ्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा

चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।

विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः

सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय
किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं
या स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह—सर्वमार्गेषु प्विति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

वापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहाया-
श्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्वपसीयते । स आश्रयः परं
अ परमात्मेति शब्ध्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तद्रामोति
री नारायणाश्रयः' 'सर्वमाश्रयतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वा-
त्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह—कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाह-
तन्व्यनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुविचजादिप्रतिपादकशरीरतन्त्रि-
कक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदा-

श्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वशेन कार्यसिद्धयभावं निश्चित्य स्वसिद्धय तथात्व-
 निश्चये सत्यस्मार्कं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।
 तथाभवने तु तद्विच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा
 भाग्यमेवेति निश्चित्वाश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंषण्चानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा
 'अनन्या' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवद्भक्तं भज्येत । एवं सति सर्वफलरूपस्त्व-
 याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्वाभावात्, प्रत्युत 'वृथिकर्मिये-
 तिन्यायेन स्वरूपहानिमसङ्गः स्यादत्र द्रूमः-कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु
 कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ
 तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा-'योगमायासुपाश्रित' इत्यत्र
 रसमार्गोऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषापापकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने
 भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ता'
 त्यत्र भगवत्सत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधारश्रेयभावे पोष्यपोषकभावे च नोपयोर्भेदे
 कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत् चत्कर्पाधिकं, एवं
 तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापद्यत्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीन-
 त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमिति भावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव
 फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतयात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं
 कालस्यातयात्वमाह-सर्वमार्गेषु नष्टेऽत्रिति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सन्तु देवैः
 कृष्ण एव गतिर्ममेत्वेवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गांच्या तेषां साह्यानां स्वस्वा-
 धिकारानुसारेण फलमापकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । फलौ
 तत्तन्मार्गं किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणैपि तत्फलभावं दृष्टान्येपामतुफलविधिममाणेन
 ततो विश्वासायममाहासतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादिति भावः । ननु सत्व-
 युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत
 आह स्वलधर्मिणीति । स्वलाः सर्वथा वाढ्याभ्यन्तरमेदेन धर्मादिकृत्वनुसन्धानरहिताश्च,
 अतुसंधानेपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्वेषां वा चिकीर्षावृद्धिजनकत्वेन,
 अत एव 'ब्रह्मं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि
 त्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यं-
 जाह पापपट्टप्रचुर इति । येषु लोके सन्मार्गाद्याचरणं कुर्यन्ति महान्तोपि तेषु प्रधान
 मनुस्यैव कुर्यन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वपक्षमात्रुयैः तत्र श्रद्धा
 भावेन्यानुसरोपेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्-
 न्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः । यथाप्यक्ताहिपो भूत्वा सुखेन तथाकुर्यन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः । योन्यथा सन्तमात्मानमन्यया प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणै'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्यार्थः । तथाहि—मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पापण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तवास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरूपोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम् ।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात्-क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्वा सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु भोजता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां जातीयानामपि संसर्गात्संयोगपृथक्त्वान्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियद्देशेषु धर्मसाधनतां विस्त्विति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्वे एव देशाः पापैकनिलया जाताः । तेषामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यद्वा तास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येषि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टास्तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः । ननु तदाक्रा-

न्येष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भोक्तृत्वमतिभोगित्वेन त एव सतां धर्मादि-
प्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्त्राह--स्तपीडेति । चिचस्वैये हि सर्वेषां स्वध-
र्मानुसन्धानं भवति । सतां चकारात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां
मसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्धयभावाद्द्रव्यता । तथासति किं कर्तव्यमित्या-
काङ्क्षायामाह--कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्दर्शनाभावेऽपि भक्तिवत्कल्पतस्त्वभा-
वत्त्वेन सर्वधर्ममार्गायफलतोष्यधिकफलप्राप्तत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप
आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थाणामतयात्वमुज्ज्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतयात्वमाह--

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां
विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा वाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासर्प तीर्थम्' 'या वै
लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वाद्तीर्थानपि तीर्थी-
कुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतयाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वपा-
धिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि--भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्या-
दिवाक्यैर्ज्ञानमोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो सुमूर्खवश्च मुग्धा
भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्धयभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावात्थं शिवेन स्वगणा
गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणगच्छित्छन्ति तत्रत्यानां प्राणापममे यथा तीर्थसम्बन्धो न
भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये' तीर्थानि
प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थपरणफलमन एव तत्र मृताःसर्व
रुद्रपिशाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः कास्यादिषु सुमूर्खेषां मनुष्याः
मारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रु-
तया सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तध-
वत्कालाभावे न तु तदिति । यद्वा 'त्वं चै'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनु-
तथाकरणे आज्ञामङ्ग एव स्थादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीं
द्वयमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्बन्धमेव सर्वं करोति
किञ्च, तयोपदेशं कुर्वन्नापि पूर्वं वैष्णवत्वेऽप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यापेशे जाते स्वस्था,
माहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्वर्माभिहृतां

१ ये तीर्थानि प्रचरन्ति मृगयन्तो निपद्भिः । य एतावन्वध मूर्खसश्च दिवो रुद्रा वितरि-

एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपरा-
ङ्गमुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि
नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि
या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि
सर्वमनवद्यम् । ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थ-
रूपनाशो वा भवेत्त्राहुः तिरोहितेति । जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं
तस्माद्दुष्टसंसर्गं अक्षरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव
साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादि-
नाशः स्यात्त्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्धयेदेव
तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स
एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः
स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्व-
धर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातित्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तृणामप्यसाधकत्वमुक्तं
भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्य-
सिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तद-
साधार्थं विशेषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापा निषिद्धकृतिभि-
र्हित्स्फलरूपतां प्राप्तास्तद्वत्तविषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेपि स्वोपजीव्यान् परम-
संज्ञैर्दिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति । लाभार्थं या पूजा
स्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी
नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीना-
सत्त्वाद्ब्रह्मणामप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधक-
त्वात्पूर्वं कर्तृणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्ब्रह्मणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्ग-
ते । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन
स्य परस्य वासुष्मिकं सिद्धयेत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । दृश्यर्थं तेषां तत्करणात्
प्राप्तया च गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन । अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'

इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्रमतिपादनाद्धर्मध्वजिबत्कृतं सर्वमकृतमायं भवतीत्येवैकप-
सर्वनास उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह
कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादिदान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वेषां
शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्ववत्त्वं तत्राह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमङ्गान्युररीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनि-
र्धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनामशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इत्यन-
र्थोपशमं साक्षात्प्रयोगमयोक्षजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिपुत्रयोगोऽपरि-
ज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरु-
कुलावासब्रह्मचर्यशूद्राश्रवणानध्यापराहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि
संस्पृष्टो ददत्येव हि पात्रक' इतिन्यायेन सम्यक्तात्पर्यात्तानेष्वध्ययनमात्रेणैव सर्व-
साधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राह—अव्रतयोगिष्विति । व्रतेष्वपयोगे येषां, व्रतानामयोगो
येष्विति वा । 'अधुना हाधिकारान्तु सर्व एव गताः कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि
तेषामव्रतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च,
'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेष्वित्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साध-
कत्वं मन्तव्यं, तेन 'मसालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति'न्यायेन पूर्वमेव तेषाम-
साधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्यं, तानि चाक्यानि प्रावाहिकपक्तिपराणि
नो चे'न्न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टाप्-
न दक्षिणाः' 'मां हि पार्थ व्यपाथित्य येपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्व'
शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्' 'नायमात्मा मवचनेन लभ्यो न मेधया न बहु-
श्रुतेनेत्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेयुः । भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं प्रार्थनासाध्यत्वं
श्रीमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रवृत्तमस्तीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु '
रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोजिता
' न दानं न तपो नेव्वा न शौचं न व्रतानि च' 'मीयतेमलया भक्त्या हरिरन्वद्विहम्वनम्,
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्-
कृतानामेव तत्प्राप्तिः । तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्प्रयोजकानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वं,
न निर्विद्येत् यावते'त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणायव-

तत्र वेदसाधकत्वं यदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरण-
मेकादशीनन्माष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्र-
तादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—‘यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो’ ‘यत्करोषि
यद्श्वासि यञ्जुहोषि ददासि यत्’ इति । तेन भगवदीयकृतकर्मणां ‘यस्य स्मृत्ये-
त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः
सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्प्राप्तिस्तत्राकामतयापि
कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्चर्यम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये
मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह
नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यमसादानां विद्यमानत्वात्कथमप-
रिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन
गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न
कार्यमितिद्विरस्तत्राह—

यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मगतानां पापण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मज्ञानाणा-
मप्याश्रय एव साधोयान्तित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशयोग्यानां 'गतिर्ममे'त्येवंरूपोक्ति-
मात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेऽपि सर्वाथै
भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवने महानुत्साहो भवति । यथा
स्वनाममाहात्म्यरूपानर्थ नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्म-
पक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यरूपानर्थ तादृशुक्तिमात्रेणैव
भगवैस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क जीवाः क्षुद्रतमाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो
भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तमुद्दिश्य तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह—
अनुभवे इति । अत्रात्मच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोऽनुभवो भगवान् पदनुभवे
स्थित इति निर्णीताथार्थं वृद्धापीत्यज्ञानान्यथाज्ञानप्रतिहूलतकैर्नान्यथा गङ्गानीयमिति
भावः । चित्तस्यातथात्वेऽपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां पदनुभूतो भग-
वानप्यनुभवारूढो भवतीति पदोपैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा कलौ
अुत्थादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्वस्यति
मेदिनीम् । तदद्दे जाह्नवीतोपं तदद्दे धाम्पदेवता' इत्यादिना वाह्यतो भगवत्साम्निध्य-
मारे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं पविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता
भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराण-
भागवतादिना साक्षात्स्वरूपया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्-
दात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वत्रोधिक्रिया श्रुत्या माहात्म्यरूपानु-
प्रवृत्तिपर्यायां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमतिस्वात्मे-
मेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जुम्भतो दद्रे इदम्' यथा
'गरिमाणं शिशोर्वेदं न सेहे गिरिकूटवत्' एवमूहामुरुधा सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु 'आकाशात्पतितं तोपं यथे'त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि स-
मुक्तौ भगवत्सम्बन्धो पविष्यतीति किमित्येवं निर्वन्धेनाश्रय एषोच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपा-
 तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतुनाम-
 गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतेः कः पुरुषार्थः
 सिद्धयेत् । तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-
 णेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णंति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते ।
 तत्र दुःखापगमाभावं पूरितोप्यपूरित एव स्याच्चत्राह—हरिरिति । यद्यप्यस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि पात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-
 मन्यपूरकत्वं तदस्वीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिवनेनावगमस्याशक्यत्वादेवम-
 पूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं
 भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तद्ब्रह्मार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमि-
 तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरक्षायाम् तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-
 स्वात्कथं श्रीमताभिव बावयं विसंवादि भवतीति चेत्त्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये-जाते भगवदाश्रयानु-
त्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्वापीति भावः । तर्हि पूर्ववाच्यमनुपपन्न-
पिति चेत्, न, अनन्वोभात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिमतियोगित्वं कलौ सुलभ-
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वा'देतस्याप्यर्थः-विवेकधर्ममत्तयादिसहितास्तु
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिणा इत्यायात्पिति
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधर्ममत्तयां चेत्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य
तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मं तद-
संभवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतपापपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवर्ता तु
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारमात्रुयात्तद्गलाच्च तस्यागः सुलभ इति
सुस्पृक्तं 'धर्मादिमतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यामुक्त्वा
विद्यमानत्वात्कथमुक्तिपात्रेण चाङ्घ्रिकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तृपकर्तृपन्थयाकर्तृसामर्थ्यादिरूपैः सहितः ।
ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्या-
योग्यविचारेणाखिलानामखिलान् कार्यान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्वापिना
शित्येन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवत्
सर्वसमत्वारसर्वमुत्तमनवसरेऽपार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धारणे अपार्थितोपि भूकृतभयतनः सर्वदेव वत
किं पुनर्मत्पार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायापि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनर
प्रार्थनानन्तरमेव सर्वाद्यौ तद्विरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्षास्मानुद्धारिष्यतीत्ये
निश्चयो जात एवं मत्पार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैर्लक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति
यदा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्पार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र पुष्पकृतिमपेतः
नवभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविपर्ययिष्णुत्कटेच्छा च पूर्वावधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः। तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तत्तद्दर्माविष्टान्तःकरणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्यार्काङ्क्षायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां ब्रजस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मरूपमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्माणां स्वरूपं तद्दर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

ब्रजपतिरतिमित्यं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।

स्वजनपरिवृढो ध्रुक् संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वं विद्वलेशः सुकेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतितिग्मम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।

ब्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विद्वलेशम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविवृतिं द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।

आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता

कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

देशादिपट्टसाधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति', स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवाप्य साधक इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरस्तु 'आभासश्च निरोधश्चे'ति वाक्यलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इहां भक्षयन्ती'ति वदन्न दशसहस्रा- पूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्धाटितः । तथा च 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इति वाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्यदपि प्रतिभाति—यथाकूरेण प्रसन्न- प्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्ति- मार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाव्यटितं स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्भक्तिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणसुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृपिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः । तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च । ब्रह्मवै- वर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्धाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येऽपि 'कृपिस्तुष्टव- ष्टनो णश्च सद्भक्तिवाचकः । अथापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्वुधाः' 'कृपिश्च परमानन्दे णश्च तदास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' 'कोटिजन्मार्जिते पापे स्तुपिः क्लेशे च वर्तते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । तृतीयेन 'पापकर्षण' इति तापनीयश्रुतिरूपवृद्धिता । गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्या- ष्टिर्जायां च 'कृपिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमय- इति ।

सदानन्दयोस्तद्विचित्रं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं चिद्रूपमितिभेदाः ।
 अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणसङ्के गमैणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः ।
 ज्ञानन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै
 भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वैव निजिज्ञासितव्यः' इति छन्दोगश्रुते-
 'र्थतो वाची निवर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च । तत्रायं
 यथा परशोच्छिदा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्योद्यारूपत्वस्याभावा-
 द्वितीयरूपत्वेन वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष दृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या स्वीपत्वेन
 वरणे यत्साक्षादर्शने तदेव हेतुः । तथा सति 'नापमात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वाद्धि उपलक्ष-
 णविधया साधनान्तरनिषेधथावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च
 ब्रह्मवैवर्तेपदं ह्येवमपि सिद्धम् । तदेतद् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायाद्यष्ट-
 शास्त्रेऽनुबुद्धयमार्गाणां कालादीनां सन्निवृत्त्याश्चोपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त
 उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोस्त्विति प्रार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूप शुद्धौ' मृज्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्येपणे'
 मृज्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्यन्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेण त एव मार्गाः 'योगास्तयो मया
 प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्तया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कश्चने'रथेकादशे
 भगवतोक्ताः स्वमाप्सुपायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्त्रदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो-
 व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य स'
 भावेन भावलक्षणमित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्त्रदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलध-
 र्मणि कलौ लोके पापण्डप्रचुरं सतीति । चोवधारणे । खलोन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्नस-
 खलधर्मा 'धर्मादन्विच केवलादि'त्यनेनानिच् । खलधर्मत्वे हेतुलोकानां पापण्डमाचुर्यम् ।
 पापण्ड उपधर्मो जैनद्वयादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्पथिकरणे सप्तमी
 आचारसत्वं चाश्रमिभ्यापकतया कालिभक्त्यन्वयेन मौण्डोपश्लेषिकत्वया वा । तथाचैतादृ-
 कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमत्रत्वस्तु समभिव्यथाहारत्वेन लभ्यः । तथाचैतादृशे लोके एवं
 ममार्गेषु सस्तु कलिमनादृत्य तद्रथं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः । 'कलेदोषनिधे राजन्' 'क-
 सभाजनयन्त्यायां' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुवेस्तत्र साधकत्वध्रमधारणाय कीर्तनस्याः
 यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमितिबोधनाय चात्र कलिलोकयोदोषकथनम् ।

‘कृष्ण’पदात्सं’पदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम् । तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितृ-
न्निश्चित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः । यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु ‘वादवादांस्त्य-
जेत्कर्तान् पक्षं कंच न संश्रयेद्’तिसप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षित-
मार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे । चक्रा-
रोत्र तन्नाशसमुच्चायकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ
कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्निमश्लोकपञ्चकेनूपङ्गो बोध्यः ।
एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतयां-
शकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु ‘खरधर्मिणी’ति
पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेनप्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे
‘क’प्रत्ययापतिभियाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, मायातरणे
प्रपच्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । प्रार्थना तु सर्वमते-
प्यन्यार्था ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानाम-
साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वाच्च च ‘काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये
मथुरैव धन्या । या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि’त्यादिभिर्दे-
शस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य ‘दिशान् पुण्यानांश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि’-
त्यादिभिर्वाक्यैर्मागानुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषा-
दिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी । चोवधारणे । कलावित्यनुपज्यते । देशेषु म्लेच्छै-
स्तैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरत्र तदा-
ग्रनुरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि । ‘एके
व्याख्यान्यकेवलाः’ तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारचौर्यदौर्जन्यादीनामेक-
पलयेषु मुख्यस्थानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो हिंसाश्च, ततस्तत्र व्यभिचारादिकं
वृन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च । ‘तद्वलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भल्यादिना तथा
विदधतीत्येप दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैप दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः—
अत्पीडेत्यादि । सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपकेशेन व्यग्रा
वद्विप्रा लोकाः सम्यञ्चो जना येष्विति । एवं च कलिहृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः ।

तामसप्रभुकल्पम्, पापवाहन्यम्, सत्पीडा, सदुद्देश्येतिरूपद्रोणे सम्यक्कर्तुमशक्त्या, सर्व-
पापेषु नष्टेषु सत्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशद्रोपादिकगुणपाथ तेषां धातव्येन जलस्य चान्तःप्रवेशवहिः-
सम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव
नार्भदम्' 'कावेरी च महापुण्या गतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा
मनुजेश्वर' 'प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गा-
नुकूलत्वमतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारधितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादि-
तीर्थवर्षेण्येति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये
दूषितास्तैरेव घेष्टितेषु । अत्रापि भावदृष्टतैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न भुवं यास्ये
नरा मयापृजन्त्ययम् । मृत्रामि तदयं ह्यत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यतामि'तिनवमस्कन्धे भगी-
रथं प्रति गङ्गावाभ्यामुद्यारचरणेन तेष्वपि शक्तिकौश्ल्यदोष इत्यर्थः । ननु 'साधवो
न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्ययं तद्गङ्गात्वेष्वास्ते ह्यपिदरि'रिति
तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाच्यवाचादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्त्वस्य मायिकत्वात्तत्रापि दोष
इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-
समूहे विद्यमानं गङ्गादेर्देवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम्
तथाच देवसंसदि विद्यमानं यहङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाच्छक्तिकौश्ल्यता-
दवस्थपित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिर्यस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमू-
वेत्येति । 'तत्तेषां न मियं यन्मनुष्या विद्युरिति' विमस्य वै संन्यसतो देवा दारादि-
पिणः । विद्रे कुर्वन्त्ययं हास्पानाक्रम्य समियात्परमिति' श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्य-
किस्तेषां न मियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहवाचादौ मुजयभावाय भगवत्पार्थनावदत्र तीया-
दुष्टेष्वविश्य प्रतिबन्धन्तस्तिरोहिताथयो भवन्त्यतः शक्तिसङ्गाधैपि दोषतादेवस्थम्
कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत्-
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इतिनियन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षा
रूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न ह्यम्पयानि तीर्थानि न देवा मुच्छिञ्जामयाः । ते पुनन्त्युक्ता-
दर्शनादेव साधक' इतिवाच्यत्वात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य 'मसङ्गमजरं पाशपासु-

कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तत्र तथा-
त्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पु-
षेप्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्वयमाहुः
पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीवि-
केषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेष्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभे-
त्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बन्ध्यते,
तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तथाच
मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तर-
ङ्गत्वात्तत्र च 'परिहाय्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो
भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु
नारीषु नानाद्वयजन्मभेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष'
इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं
वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च
परिज्ञानमित्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरुरूपसत्त्वादिना
ज्ञानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरू-
पस्य श्रावणत्वेपि शुद्धचभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वचि-
त्प्रस्यचित्परिज्ञानदर्शनादोपान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता वद्वोऽशौचा'
इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मपृक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्म-
स्मिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेष्विति । तिरोहिनावपतीवमानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठाणी
देवता तौ येषाम् । 'य एनं शुक्ले स्याणौ निपिश्रेञ्जायेरञ्जळाखाः प्ररोहेषुः पलाशा-
नी'त्यादिश्रुतिभूक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तद्गुणवतिरोभासस्य स्फुटत्वाच्च तेषामिदानीं
साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वचर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन
तुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वाच्च च 'स्वधर्मस्थो यजन्पत्नैःनाशीः काम उद्व्य । न याति स्वर्गनरकौ
यजन्पत्न समाचरेत्' इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोनयः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धयामोति मद्भक्ति
च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' तथा चैकादशी
योका गर्भवासस्ययङ्करी । एकादशीसर्भं पुण्यं न भूतं न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्वरी-
यैर्भगवद्वाक्यै'राचारमन्त्रो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्पारंतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रता-
दीनां साधकत्वादिमतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः
नानेत्यादि ।

नानावादिनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानापकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फला-
दिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाद्यो वेदवाक्यानां वादात् । 'यावज्जीवे-
त्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं विदष्टं धर्मपुण्ड्रकम् । मन्त्रापोरुपनिःस्वानां
जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरूपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्ले-
मोहिता विषा दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्टयर्थं दशमोविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि-
मात्रे 'पुरा देवैर्कृपितगैः स्वपदच्छ्रुतिशङ्कया । सप्तमीवेधजालेन गोपितं चाष्टमीव्रत'मि-
स्कान्देन्यत्र च निषेधनिन्दार्थैर्वैषम्यस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेपि तदनाह-
स्वस्वाग्रहेण वाक्याभासाङ्गवायाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्यले घोष्यः ।
स्वधर्माचारयोरपि विषयविषया फलतो नाशो बोध्यः । वादे प्रयोजकमाहुः पापण्डेति
पापण्डेन दम्भेन एकोन्यःप्रच्यन्न उद्यमो येषामिति । स च 'वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धि-
लनाववत्रासनामोदितैर्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुच्चिद्रचन्द्रसयाः । सर्वज्ञा इति दीक्षि
इति चिरात्प्राप्तमिहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तनिगद्रन्व्येते
इतिवद्बोधः । अत एव भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न
मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं पङ्क्तिभक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधन-
मुत्तेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमा-
हात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः पण्डस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मवन्द्युः । आदि-
पदेन गजेन्द्राहल्याद्या, वृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च,
तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृश-
माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि । अनु-
भवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति
प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्ववर्षे शब्दे
श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ बोधयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां
विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गी-
याणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं
साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत्-
'अग्निस्वपो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता' इत्यष्टादशो विष्ण्वन्ताः । अत्र
विष्णुः कालः, 'स विष्णुवाख्यो धियज्ञोसौ कालः कलयतां वर' इति वाक्यात्तदन्ता वा ।
अत्र च ब्रह्माणं नामाबुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो
षादयो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे
कृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'ति श्रुतेस्तदधीनाः । कालस्य क्षोभ-
या गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृगामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहदक्षरं गणिता-
न्दकं, गणितः 'स एको मानुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको
गण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवसहस्रात् आनन्दो यत्र, स्वार्थे
तादृशम् । तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा
पि तत्रैव मविशन्तीति यो धितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽसरात्परतः परः स उच्यते पुरुषः ।

‘अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम’ इत्यादिध्रुतिस्मृतिपतिपाद्यः । पूर्णानन्दः । शतानन्दसहस्राने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवागगोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके ‘यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कुतश्चेने’तीतिथुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाश्रियस्त्वानवधित्वस्य च बोधनात्तया । तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चाश्रय विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मय परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तद्यथायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि ।

। विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छतः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः । साच्चिकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तदङ्गानि । साङ्गे ज्ञानकर्मणो च । ते रहितस्थैतेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम् । वाचकसत्तामाहुः विशेपतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यः गङ्ग इति यावत् । एता- यता‘नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत’ इतिवाक्यस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रति- वन्द्यकमपि सूचितम् । एवं वाचकत्वसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीन- स्येति । एवं साधकाभावशक्यसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरने- जस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंकारिकाया ग्लाने- सतां दुरापत्वात् सतां मार्पादिज्ञानां ग्लानौ साधनान्तरेषु मष्टोत्तरं तु तादृशग्लानि- मपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया ‘सोहं तवाङ्गी’त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन स्- ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गतायां ‘मां हि पार्थ ज्ययाश्रित्य’ ‘अपि चेत्पुदा- चार’इत्यत्र भगवतात्मता । नच पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिहक्ता न तु पापकर्मणाम् द्वितीये चानन्यमजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्व्यप्याश्रयेण ‘सिद्धे- कमिति शङ्क्यं, ‘सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो द- त्येतद्भवं हरेरि’तिगारुडाद्, ‘सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं स भूतेभ्यो दद्याम्येतद्भवं ममे’तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याद्य भगवत्स्तादृशे त्रै नि- ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र मष्टत्वापि माहात्म्यज्ञानपूर्वकलोहस्यैव द्वारत्वनिधयादिन-

भाक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामिति' भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैर्न्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्यैःत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादितं 'मज्जामिळादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रांमुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्भर्मतत्साधुकारिष्वित्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च प्रथमान्तद्वयमहंपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैर्न्याभावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदाढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्दरिष्पतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोववीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । अत्रश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेनुपपाठ च । न श्रु मनसा मेने स्वपरासद्गृहाश्रयमिति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्थनामक-
दुद्भुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽत्रबोद्धुक्तवानिति । तथाचैवमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चय-
दर्थगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविषेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तो-
त्रोपनिश्चयानपूर्वकं भगवत्सन्निधायैतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरण-
वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणार्थ-
रूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं मार्गां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, एव त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति ।
 तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति
 तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-
 धैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यथैकादशे 'योगाद्ययो मये' त्यत्र 'ज्ञानं
 कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र
 भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं 'त्वथैतपरमं गुह्यमि' त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादियेषां
 तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा वालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो
 दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः,
 अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपदं तद्गुणान्तश्च सङ्गतौ भवतः ।
 अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपटनपि तस्यैवानुक्त्यरूपम् । एतन्मार्गप्रविष्टाना-
 मतिनघन्यतयाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाड्या भवति तामनुसन्त्यायास्यो-
 क्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव ।
 किञ्चामेदयादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयभिन्नरसात्मा स्वयं भवति ।
 उपवृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तपश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु 'वर्धते सा ब्रजे राधा शुक्ले
 चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो
 वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमिति । 'पिताहमस्य
 जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणापि 'वैश्वानराद्वाक्यतेः' 'वस्तुतः
 कृष्ण एवे'ति च बाह्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयगुह्यारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं
 सिद्धयति । किञ्च, सप्तश्लोकयां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभू-
 रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यु-
 ष्यन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमध्ये च व्याख्यायते तदा
 न दोषः । तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाच्छरण-
 प्यदृष्टैव । तत्साधयमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिभोक्तेषु भगवत्साधुपायेषु न
 तदभापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपापतया भातेषु । खलोन्तर्दुष्टं इर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिंस्ता-
 कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपघाते । च-
 रेण कलहादेरिषि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पापण्डः फलहजननकारणरूपो धर्मः पञ्चुरो यस्मिन्
 द्यो लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोपस्तस्याधमस्यान्निकामित्या-
 वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णाः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि वि-
 न्यमान एव गतिर्विदिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृता प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसा-

वैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुहुः सुस्वरं राजन्वित्प्र
फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेपि बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—म्लेच्छाक्रान्ते-
त्यादि । म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दाव-
नादिष्वक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्थायिभावः सः अपः अक्षरको
यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलियेषु 'सोयं वसन्तसमयो
धिपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलाङ्गो
नालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतार' इतिवत्तदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोवधारणे । तेन
पूर्वमतथात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा
तथा व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तभक्ता येषु । एतादृशोऽसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे
गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गत' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादिर्यस्याः सा
गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि घट्टविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, 'नद्यस्तदे'
त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्भावराहित्येन दुष्टैरेवावृत्तेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहि-
ताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भाग्येयं भाग्यमिति
कोशादस्मद्भाग्यं, 'त्रैलोक्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते
चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकृतापजनके-
ष्वेति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । निन्दायां सर्वत्र
साधिवयमेव वीजं नतु तेषु दोषो वीजम् । अहङ्कारेणास्पद्रशो भगवानस्मत्प्रार्थित
विन्यत्र फलिप्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तम्भेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्त-
स्तम्भको विरहस्तमनु लक्ष्मीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यदृश इदानीं तैरपि सह
मिलतीति । तद्गमकं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्थं पूजा लाभपूजा
अर्थं यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्क-
र्तुं तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलानां नित्यत्वाच्चापेनासञ्चितभ्रमवचदाविर्भावोत्ते-
त्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरुणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—
शरीरिति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दमृतु'रितिप्रस्थानसाध-

श्रीमद्भ्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यिकविलापस्यंश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया तैर्ज्ञातिषु । अत एव अन्नतयोगिषु ज्ञान-
गोचरत्वेपि जपादिनियमयोगिषु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः
अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्चाभासङ्गिक-मुख्य-
महिषीभासङ्गिक-समर्पणादिभासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोऽप्यतिवापाधिक्येन स्वस्थाशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-
नानेत्यादि । नानापकारका वादा नानावादाः । भगवान् मयुरायामेवं पुरवनितादीनां
कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राञ्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्था-
दात्वेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितसंवादादिरूपा वा,
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्गतादिषु । किञ्च, पापपण्डः कापट्यं,
तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिर्दृश्यो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनाय
लोकिकवैदिकविहितमार्यादिकर्मभगवद्गतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तत्कृतिरपीति
तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःपादुरभूततस्तपावस्थयाहुः-अजामिलादीति ।
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'स्यादिश्रुतौ । तथा-
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्पपन्नोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च ।
तद्गुणसंविज्ञानः । शैद्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा
दोषा मानादय आज्ञाद्यकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे
स्थितो गोवरीभवत् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावात्
मयुराद्वारकास्थित्यादि तच्छ्रीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षभक्त-
विस्मरणातिमियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानाम्
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदन्नोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः-प्राक्-
इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुस-
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहद्दत्तरं गुह-
परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सहृद्यात आनन्दो
प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेवं कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् रि-
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च

देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तथेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवल-
परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्था तथाहुः—विवेके-
त्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीर-
सेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहा-
त्मकेन असक्तस्थ मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्य-
मेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं
कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति
सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण !
पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्धच्यन्तत्वेन व्याख्या-
तमित्यस्माभिरपि तथोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि क्विन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्गी-
रीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावप्रकटनाथार्थाज्ञायावतीर्णः विज्ञाप-
यामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति—कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रोत्ररूपः स्वामि-
नीभावपूरितत्वात् बह्दभो भगवतः प्रिय आचार्यवर्यो ब्रवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्द-
धानो योस्मद्विषयो गावस्यां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो
भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरान-
न्वयादहाराच्च, अत्र दुरान्वयोप्यदुष्ट एव । 'विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह' ।
'विमुञ्चात्मतनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमार्ति प्रिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च
स्त्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका
संयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीबलुभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्बलुभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीदयामलात्मजश्रीब्रज-
राजचिरंचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विचरणासमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिदृष्ट्यैकविन्दुस्पर्शे रसाद्रिता ।
कृष्णलीलाविजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।
तेनैव यम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि ज्ञापते ॥ २ ॥
पुष्टिमार्गादिस्त्रीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।
स्वाश्रयं कुर्वते यत्र तमहं कृष्णमाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेषा निरूप्यते मर्यादापुष्टिमेदेन । तत्र मर्यादाया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिपदसाधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणांमाश्रयस्तादृशोत्र निरूप्यते मकारसहित इत्पवगम्पते । तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूप्यधिरूपावत्त्वं लुष्टिकलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवा-महात्तिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसि-मेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाङ्कुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारक-वनाया अवश्यसंभवाच्च तद्दर्पमाकष्ये विजातीयसङ्घानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवमतिव-सति तदपेक्षाननितात्यां भगवद्द्वयविरिक्तस्य तन्निर्वृत्तेरशक्यत्वाच्छरणमतिव्यथ । श्रीमदाचार्यचरणास्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव मतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव मयेक-स्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्यासाधकत्वबुद्ध्याऽऽविवरेवेति तत्प्रमाणकरणान्नाष्ट एवेत्य-अथवा 'यश्चे अदर्शनै' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येत-

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः खलधमिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोपत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिं सभाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम् । भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पापण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तथोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुत्तरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्तत्काले तत्तद्धर्मानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समसं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकाराद्बुद्धेः तथा । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तदभावात्तत्सङ्गोऽस्य बाधको विजातीयभाववच्चादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः—पापण्डेति । लोके पुष्टिमार्गीये पापण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पापण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिन्स्राष्टशे सति । 'यया न कोपि जानाति' इत्या कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्त-भावानामुच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव निरूप्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं निरूप्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवच्छीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्ध-
बाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विपयिणी, मन्त्रायुपासंकाः, धर्ममार्गीयाश्च । अपि तेऽनिपिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती' बुद्ध्या धर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्तै-
जान्ताः सर्वे प्रदेशा, अत एव तच्छीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः ।
तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि

यत्र मतिवन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गण भावनाशे किमु वक्तव्य-
मिति फेद्युतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाकांक्षितिवार्त्तं
किन्तु तद्भय एव जाता इत्याहुः । पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तयोक्तम् ।
एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीति भावः । एवं सति भगवतो
मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिच्छ्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षाचिदानां सद्गुण-
साधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तत्रापि केचन
निवृत्तिपरा भक्षिष्णन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्गुणाणि तत्रत्यानां
देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति
तच्चिप्रहाशयत्वान्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तद्वैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तथा
व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोका धर्मशीला येपु । यत्र स्थूलदृष्टी-
नामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भाववैधित्ये किमु वाच्यम् ।
तादृशानामप्येपि स्यात्प्रसक्तैरिति भावः । तथाचोक्तं 'अस्माक्य तन्मथुति नान्यसप्तसमि-
त्युत्रं विवरणे 'यथा व्याग्राग्ने देहाभिमानी'ति फलप्रकरणे । अतस्तद्भावोपेणे मति-
वन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत एवालौकि-
कमनःसिद्धाविति विवेकधैर्याश्रयेष्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते
सपीचीनास्ते सह सङ्गो न वायक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामष्टद्रव्या शुद्धस्य तेषामपि सङ्गो
वायक इतीतरमार्गापाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षा भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमिति सिद्धान्त-
मुक्तावल्पां स्फुटीकृतं, तद्विविधत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभे-
दप्रवाहभक्तिमार्गापज्ञानमार्गायमर्षादाभक्तिमार्गाया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवा-
भक्तिमार्गायाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्षादि-
भक्तिमार्गायभक्तत्वात्न्यायमर्षादाभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिका-
क्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गाया
ज्ञेयाः । अग्निमाणापुच्छरक्षोकेषु निरूपणम् । तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदि-
तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव 'तीर्थभूता' आदिसाधक-
नादभक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गाया एव । कर्ममार्गायापेक्षयोक्तम् ।

ज्ञापनाय 'वर्य'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तद्वैपरित्यक्तः । तादृशैर्मन्त्रै-
 प्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भावद-
 र्मनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणामावरकत्वं तत्राहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदै-
 वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेषु साक्षा-
 त्यरूपोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-
 कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणागतिमै-
 वोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'द्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा
 सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-
 त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन
 तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुपूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समनुद्धय एकान्तस्यितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-
 तीति तेषामपि भायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः
 कर्तृणां तन्निरूपयन्ति—अहङ्कारविमूढेष्विति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस-
 म्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-
 षु गतिगतादिशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने
 मन्त्रे ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-
 षु इति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रति-
 तिष्ठत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वाच्चदनुवर्तिनां पापा-
 नुवर्तित्वमेवेति तयोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव
 अपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-
 तीति तत्राहुः—लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां
 अनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा,
 र्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नञ्वात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-
 भवान् च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । वहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दा-
 नुभोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सह'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां
 साक्षात्स्वरूपानुभवो, वहिःमाकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं 'निरोधवर्णने

‘सङ्कल्पादपि तत्र हि’ ‘दर्शनं स्पर्शनं स्पृष्टमि’त्यादिना । एवं सति पुष्टिपार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि प्रेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सैवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं ‘सङ्गस्तेष्वथ ते माय्यः’ ‘सतां प्रसङ्गादित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-
नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तच्चिरूपपन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि ‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत’मित्यत्र ‘मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानी-
त्युच्यया भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदा-
नन्दानुभवजनितान्शुश्रुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादापार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽप-
रिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः
कृष्णपदस्य रसात्मकभावस्वरूप्येस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोर्थो न लक्षि-
तस्तद्ग्राहः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावसतिविषयकपरमानुरागज-
नितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठात्वं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगाः संयोगो
येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः-
तिरोहितेति । तिरोहितः, अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु
अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! चासुदेवैत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते
नहि पुष्टिपार्गीयैरिव ‘व्रजजनातिहन् वीरयोपिताम्’ ‘सुरतनाथे’त्यादीनि रसात्मका-
तानि । तेषां मर्यादापार्गीयसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्त-
साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषु
व्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः-
नानायादेति ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डिकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोद्यमास्तथापि तेषां मर्यादाभिश्चत्वात्सर्वकर्म-
दिषु सर्वं पुष्टिपार्गीयं यावत्प्रमेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा ‘भगवता सदे’त्यादिरूपा

लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादा-
मार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु । तेषां
मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादया गुणज्ञासौ'
इति निरूपितं पुष्टिवाहमर्यादायाम् । ननु तेषु भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं
तदज्ञानं तत्राहुः—पापण्डैकप्रघत्नेष्विति । पापण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्न-
स्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वा-
त्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं
सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमित्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाम-
क्तिमार्गीयफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं
तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरूपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सद्गो न साधक इति
शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य
के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेव
चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं
चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिला-
दिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृशैव मोक्षः कृष्णस्य

सोऽद्वयमित्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं
मि उक्तः । तत्र 'पुरुषभूषण देहि दास्यमि'त्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति, भग-
वतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति
तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्रापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं
निरूपयन्ति । तथाहि—अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घा-
स्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्य-
न्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह-संलाप' इत्याद्युक्त-
कारकभावनायामन्तर्लालासहितसाक्षात्स्वरूपमाकट्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि-
याणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः ।
पाञ्जामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मियो गुणगान-

दृश्यानामात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तयोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्वर्णकार्यमुक्तम् । इष्टमाप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्यं तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः । अनेनेष्टमाप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारवेशदुष्टानामित्यारभ्य 'हरिबल्लुखमि' रूपन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितमखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिप्राहमर्यादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलाधर्माणामप्याविभावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृशभावोपपणादौ ईदृशधर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृप्या एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घातरूपः कृप्य एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे 'जटे सदंशः प्रकट इतरावाच्छन्नौ, जीषे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तिरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिमागीयस्य तु साधनदशायां सेवागुणगानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तप्रस्तावले 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दस्वत' इति निरोधविवरणेष्युक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्ते सच्चिदानन्दरूपाद्यात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाधिर्गवात्सकला जाताः । कलरसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्यये ततोपि 'ह्रस्वोक्तिस्तुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुपूर्णानन्दो हरिरिति । यद्यः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाधिर्गवात्सकलान्विरसात्मका भावा उरपद्यन्त इति तज्जनितप्रचुरातिशान्त्यर्थमन्वस्तत्तदिन्द्रियादि तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तयोक्तम् । एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य संप्रसन्नसङ्घातः साक्षात्संस्तम्बकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति ह्यतस्तत्र दोषत्वकाश इतिभावः । तदेवं 'श्रीमते'

कुलजीवात्मा श्रीमद्भोक्तुलमानसमित्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवाथैरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्धये शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं वहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलां-
प्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकृतम् । पुष्टिपार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यक-
त्वात्प्रागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य
देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् ।
एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षुरागादित्रपानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । अस्मि-
च्छ्लोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते । तथाहि-विवेकः, धैर्यं, भक्त्याद्यस्तै रहितस्य ।
विवेकराहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तत्रोन्मादावस्थायां
भवतीति सा निरूपिता । धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरार्तिजनितप्र-
स्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं
तत्राहुः-भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वमन्तःप्राकट्ये साक्षाद्भक्ति-
रूपप्रखारविन्दसुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं
यत्तमिदानीं प्रलापावस्थायां फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्य-
पणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्र-
तिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ' भगवान् फलरूप-
मिति ' स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकरणे प्रचु-
र्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्जामदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्गा-
त्वेन स्यात्तुमशक्तं गुणाबलमिश्रतवित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले
प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं ' ज्ञानं
गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका ' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न
भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयवृत्तौयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् ।
य गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं छीलाप्रवेशमलापः स्वरूप-
स्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुद्धुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राण-
योगत'मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम् । एतादृशस्य पुनः श्रीप्रमाविर्भावाद्य-
प्यनुभवेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमा-

नन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम् । तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च
भूत्वा पुनः कृष्ण एव जातः' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशवस्याभिः पूर्णविषयोमानुभवे जाते प्रतियन्धकदेहनिवृत्तौ तस्या-
लौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरू-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवा-
खिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबलभोवर्षीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैर्धर्मवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्ययाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्स-
हितः सन् तं भवति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता राज्ञी'-
रित्यत्र 'भगवत्पदेन स्वतन्त्रालिखने । ननु प्रभोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रशुणा सह
साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुखयो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टिं काये-
ने'तिवाक्याचाहशं तं भक्तं साक्षात्साम्यकस्वचरणारविन्दपकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादि-
सम्पत्तिपूर्वकं लीलासमावे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्म-
कालौकिकव्योगुणादिरूपानलौकिकैर्धर्म्यगुणादिसामर्थ्यरूपान करोतीति तयोक्तम्
एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले । एतत्सर्वं यथार्थकः स्वप्रतिविम्बविभ्र-
इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि । एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरू-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तम्
ननु मोक्षे आनन्दप्रभता तिष्ठति प्रकृतैपि तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शा-
णस्थसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वस्वभावपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृशमा-
वत्येवैति शरणस्थस्य-सर्वात्मभावस्य-पूर्वोक्तभक्ततच्छीलानन्दसमुद्गमस्य-तत् उद्-
करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठत् । एतत्सर्वं
एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यद्वा, लीलानुभवदशायामपि तत्प्रभावादेव दैन्य-
उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम् । अथवा, अतःपरं सर्वोशेन शरणस्या ज्ञ-
इति वा ज्ञापनार्थं शरणं स्थित्यर्थे उक्तः । तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता । किञ्च, एवं
स्वरूपानन्दानुभवानन्दं श्रीमदुद्भवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो नि-
पित इति ज्ञापनाचोद्धारं सम्यक्त्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यन्य-

ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुह्यत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिप्रियाय
गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्बलभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत
इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति द्वेतेरत्रवी-
दित्वाद्, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्बलभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न
पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमव-
दातम् ॥ १०-११ ॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।

निरूपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भुतं नः ॥ १ ॥

व्रतवतो महती किल ते कृपा मद्पराधगणा अपि तादृशाः ।

उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥

अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।

श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥

प्रणतालोकसंज्ञातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।

संतापं हरति श्रीमद्विद्वलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

BHAVAN'S LIBRARY, BOMBAY-7

- *N.B.*—This book is issued only for one week till _____
This book should be returned within a fortnight from
the date last marked below :

Date

Date

Date

7 AUG 1974

27 JAN 1981

Not to be Issued

Not to be Issued

Bharatiya Vidya Bhavan's Granthagar

Call No Sa/VV/VAL/RAG/10880

Title Krishna Raya Stotram.
with six commentaries.

Author Vallabha Charya

Date of Issue	Borrower's No	Date of Issue	Borrower's No
7/1/1974			
Shri R T Vyas			
27 JAN 1981			
	473		

Not to be Issued